वर्ष – 02 अंक – 08, ISSN-2993-4648

Research Journal

शोध उत्कर्ष
Shodh Utkarsh

A Peer Rviewed Refereed Multidisciplinary Quarterly international
E– Journal Impact factor-03

अक्तूबर - दिसंबर - 2024

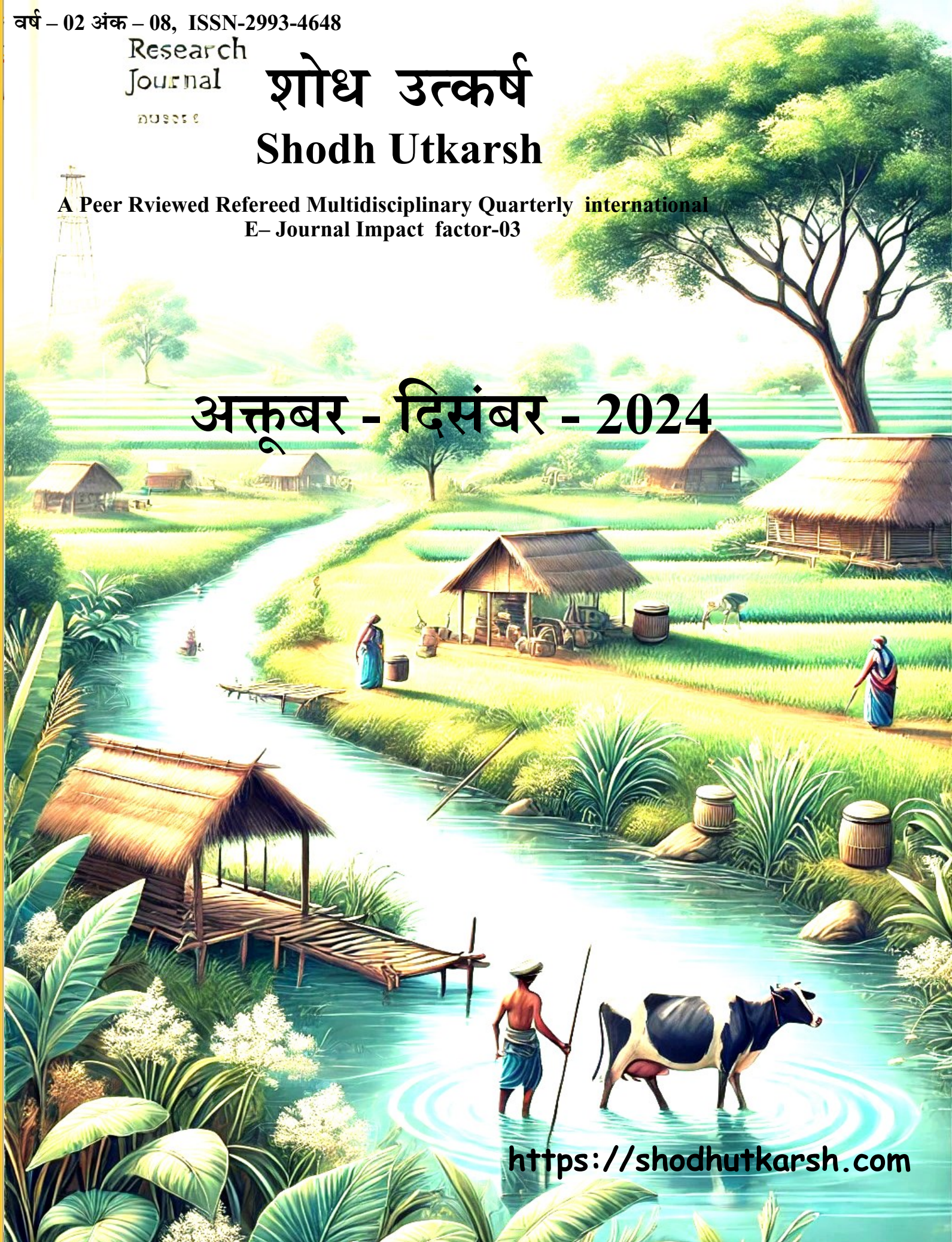

https://shodhutkarsh.com

शोध उत्कर्ष Shodh Utkarsh (RESEARCH ARETE JOURNAL)

अतिथि संपादक -प्रो.अनिल 'सत्यप्रिय' त्रैमासिक ऑनलाइन जर्नल - 'शोध उत्कर्ष'

शोध उत्कर्ष
Shodh Utkarsh

A Peer Reviewed Refereed Multidisciplinary Quarterly international E- Research Journal

वर्ष-02 अंक - 08 अक्तूबर - दिसंबर -2024

सलाहकार मण्डल (Advisory Board)

Shri Jai Prakash Pandey
Director-Department of Education And Literacy, Ministery Of Education, Govt.Of India.
Prof. Prabha Shankar Shukla
Vice Chancellor North Eastern Hill University (NEHU) Shillong
डॉ. कन्हैया त्रिपाठी पूर्व (OSD),महामहिम राष्ट्रपति 'भारत'
प्रो. दिनेश कुशवाह,रीवा (म.प्र.)
प्रो. राजेश कुमार गर्ग प्रयागराज (उ.प्र.)
प्रो. अनुराग मिश्रा द्वारका, नई दिल्ली
प्रो. के. एस. नेताम सीधी (म.प्र.)
डॉ.एम.जी. एच. जैदी पन्त नगर (उत्तराखण्ड)
डॉ.राजकुमार उपाध्याय 'मणि' बठिंडा (पंजाब)
डॉ. संगीता मसीह शहडोल (म.प्र.)
डॉ. अंजनी कुमार श्रीवास्तव मोतिहारी विहार
डॉ. अनिल कुमार दीक्षित,भोपाल (म.प्र.)
श्री संकर्षण मिश्रा ऊधम सिंह नगर, उत्तराखण्ड
प्रो.एम.यू.सिद्दीक़ी सिंगरौली (म.प्र.)
डॉ. बी.पी. बडोला (हिमांचल प्रदेश)
डॉ.अजय चौधरी,नागपुर (महारष्ट्र)
श्री प्रदीप कुमार- मूल्यांकक केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली
डॉ. रेणु सिन्हा,रांची- (झारखंड)
डॉ. निशा मुरलीधरन,वड़पलनी- चेन्नई
डॉ. अंजलि एस. एर्नाकुलम, (केरल)
श्री पांडुरंग एस. जाधव बेंगलुरु, (कर्नाटक)

संपादक मंडल

प्रधान संपादक -डॉ. एन. पी. प्रजापति, सह संपादक - प्रो.यूरी बोत्वीकिन तारास शेव्चेंको कीव (युक्रेन), प्रो.सिराजुद्दीन नूर्मतोव (उज़्बेकिस्तान गणराज्य) डॉ. संतोष कुमार सोनकर अमरकंटक (म.प्र.) कार्यकारी संपादक -प्रो. रीनू रानी मिश्रा (उत्तराखंड),प्रो. मोहन लाल 'आर्य' निदेशक एवं डीन IFTM (U.P.) डॉ. बालेन्द्र सिंह यादव, उँचाहार–रायबरेली(उ.प्र.) डॉ.उमाकांत सिंह सिंरौली (म.प्र.) कैप्टन डॉ.बाबासाहेब माने पुणे (महाराष्ट्र)

लेख भेजने के लिए :– Mail-ID-shodh utkasrsh@gmail.com नोट:- पत्रिका में प्रकाशित लेख / शोध आदि में विवाद की स्थिति में लेखक /शोधार्थी स्वयं जिम्मेदार होंगे. पत्रिका के बारे मे विस्तार से जानने के लिए देखें:-

Website:–http:// www.shodhutkarsh.com

प्रकाशक :-

Radha publications

Mail id-radhapub@gmail.com **फोन** -087505 51515, 9350551515 **Website:-**https://radhapublications.com

पता :-4231, 1, Ansari Rd, Delhi Gate, Daryaganj, New Delhi, Delhi, 110002

दलित उत्कर्ष समिति द्वारा प्रकाशित

शोध उत्कर्ष
Shodh Utkarsh
A Peer Reviewed Refereed Multidisciplinary Quarterly international Research E-Journal
वर्ष-02 अंक - 08 अक्तूबर - दिसंबर -2024

Table of Content

S.N.	Title and Name of Author(s)	Page No.
	संपादकीय-	01
1.	शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश' पुस्तक का अनुशीलन - **प्रो. चंद्रकांत सिंह**	2-4
2.	प्रसाद की रचना में नारी चेतना - **श्री राम सजीवन भास्कर**	5-6
3.	हरमहेन्द्र सिंह बेदी जी के काव्य में समाज और मनोजगत - **शिल्पा भाटिया**	7-9
4.	दौसा जिले के प्रमुख संत और उनका साहित्य - **डॉ. शीतल प्रसाद महेन्द्रा**	9-12
5.	आधुनिक चिंतन और आदिवासी समाज की पहचान - **अभिषेक कुमार मीना**	12-15
6.	हिंदी उपन्यासों में उत्तर आधुनिकता विमर्श - **प्रा.जयवंत मधुकर बाबर**	16-17
7.	हिन्दी साहित्य के वैश्विक कथाकार : निर्मल वर्मा - **रज्जन प्रसाद शुक्ला**	18-20
8.	कांगड़ी भाषा का संरक्षण: एक आवश्यक प्रयास - **शीतल कुमारी & डॉ.अशोक कुमार**	21-22
9.	अमृत राय के कथा-साहित्य में जीवन-दर्शन - **डॉ. अनुराधा शुक्ला**	22-25
10.	मंज़ूर एहतेशाम की कहानियों में मध्यवर्गीय समाज में पारिवारिक विघटन **-शमीम पी**	26-27
11.	An Analytical Study of Peace Education in India - **Dr. Rajkumari Gola**	28-32
12.	Exploring Gibson's Neuromancer as a Feminist Cyborg Manifesto **- Saranya. S.**	33-35
13.	A Present Assessment and Detailed Analysis of Curcumin's Pharmacological Efeets - **Ashutosh Pathak**	36-44
14.	Importance of Veer Bal Diwas in Modern India - **Saurabh Shubham**	45
15.	A Study of Principal's role in School Effectiveness - **Dr. Mohan Lal 'Arya'**	46-49
16.	A Stusy to AssessThe Efetiveness of Digital Discipline Programme (DDP) AmongDigi-Nurses at Selected Nursing Colleges at Bhopal – **Soney Toppo, Priya Gupta,Aheri Mitra, Manish Kumar, Roshni Yadav, Shifa Behna, Sonika Kushwaha**	50-54
17.	Perspective of Women's Health in The Sustainable Development Goals (SDGs) in Indian Context - **Hanumant Oli & Reenu Rani Mishra**	55-58
18.	प्रेमचन्द के साहित्य में वृद्ध विमर्श - **प्रियांशु कुमारी & डॉ. सरिता सिन्हा**	59-60
19.	बालको के विकास में बाल पत्रकारिता का योगदान **- डॉ. शशि प्रभा जैन**	60-62
20.	The Struggle for Social Equity : Dr. B.R. Ambedkar's Critique of Caste and Vision for a Just Society- **Dr. Ashish Kumar Sonker**	63-66
21.	A Study to Assess The Knowledge Regarding Patient Safety Among Undergraduate Nursing students in selected nursing college, bhopal (mp) – **Blessy mathews, David v. Daryapurkar– by Deepa Pawar, Muskan Nagar, Mantu Kumar, Nikhil Tiwari, Vandana Barkare**	66-70
22.	स्वातंत्र्योत्तर हिंदी यात्रा-साहित्य में पर्यावरणीय विमर्श **- डॉ.रत्नेश कुमार यादव & कमल दीप सिंह**	71-73
23.	वैश्वीकरण के दौर में हिंदी - **डॉ. मकसूद खान**	73-75
24.	संजीव की कहानियों में व्यक्त मानवीय संवेदना का विश्लेषण - **डॉ. पी.एम.आर. जयन्ती**	75-77
25.	मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में पुरुषों का सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष**-सुमन बारला & डॉ. महेन्द्र कुमार वर्मा**	78-79
26.	हिन्दी उपन्यासों के आधार पर किन्नरों की आर्थिक स्थिति - **अमिता टेटे & डॉ. महेन्द्र कुमार वर्मा**	80-82
27.	"नहर में बहती लाशें" में समाज की वर्गीय संरचना **- उमा बणिचुल**	82-83
28.	महिला वकीलों में भूमिका संघर्ष एवं सामंजस्य **-श्रीमती सीमा सोनी**	84-86
29.	तुलनात्मक साहित्य का विकास-क्रम और अनुवाद की भूमिका **- डॉ. सीमा चन्द्रन**	86-87
30.	रमेश पोखरियाल 'निशंक' के कथा साहित्य में शैक्षिक दृष्टिकोण **- मालती बी.आर.**	88-89

संपादकीय.....

बौद्धिक शोध,खोज और लेखकीय संघर्ष आखिर किसके लिए ?

मनुष्य जागतिक प्राणियों में सबसे विशिष्ट है क्योंकि वह विवेकवान है। वह अच्छे और बुरे के बारे में विचार कर निर्णय ले सकता है। इस लिहाज से उसकी भूमिका अन्य जीवधारियों की तुलना में जरूरी और परिवर्तनकारी मानी जाती है। अपनी बौद्धिक क्षमता के कारण ही वह समय और परिस्थितियों के हिसाब से शोध-खोज और संघर्ष को आयाम और आकार देता आया है। आदिम कबीलाई युग से निकलकर आज उसकी जीवन दृष्टि उत्तर आधुनिकता के वैचारिक स्वर में शामिल है। कहने के लिए आज का मानव सभ्य एवं सुशिक्षित है। जीवन के जंगली पन से निकलकर अब आधुनिक हो गया है। भौतिक जीवन को सुखमय और समुन्नत बनाने के लिए उसने तरह-तरह के साधन-प्रसाधन जुटा लिए हैं। परंतु इस लौह और गलाकाटू समय में मनुष्य की जागतिक इच्छाओं का सिलसिला थमने का नाम नहीं ले रहा है। वहीं दूसरी ओर शोषण अत्याचार और दुराचार पर विराम लगने की गुंजाइश भी लाभ-लोभ के चक्कर में क्षीण है। इसलिए एक खास किस्म की बेचैनी, अकुलाहट, चिंता और छटपटाहट दायित्व बोध से जुड़े बौद्धिकों के मन में उठना स्वाभाविक है। फलतः वे वर्तमान जीवन स्तर और परिस्थितियों को अधिक मानवीय, संवेदनशील, रचनात्मक एवं कलात्मक बनाने के लिए सक्रिय एवं क्रियाशील हैं। समकालीन समय में कलात्मक एवं साहित्यिक पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन समाज को समतामूलक समावेशी, सामाजिक बराबरीपन और नवोन्मेष के लिए शुभ है।

जीवन में सकारात्मक और जीवनोपयोगी मूल्यों के समर्थकों का प्रयास हमेशा प्रेम, करुणा, पारस्परिकता एवं समावेशिता को विकसित और संवर्धित करने के लिए रहता है। वैज्ञानिक दृष्टि का सहारा लेकर विचार संपन्न बौद्धिक अपने शोध परख लेखों-आलेखों के माध्यम से समाज को दृष्टि संपन्न बनाते हैं ताकि समाज में रहने वाले लोग अपने समय के अंधेरे से मुठभेड़ कर सकें । प्रतिगामी, अंधविश्वासी एवं शोषणकारी ताकतों के विरुद्ध खड़े होने की ताकत से लोगों को लैस कर सकें। शोध और खोज के पीछे मनुष्य और उसके जीवन का हित जुड़ा हुआ है। एक ऐसा हित जिसमें समाज को वैज्ञानिक सोच से सुसज्जित करने एवं समता मूलक समाज को गति देने का अप्रतिम सपना शामिल हो। जिस शोध, खोज और बौद्धिक संघर्ष के केंद्र में यदि मनुष्य और उसकी मनुष्यता नहीं है तो वह शोध आखिर किस काम का है? शोध और खोज की मनसा और उसके सरोकार को सामाजिक संकीर्णता से मुक्त कर उसे वैज्ञानिक धरातल पर सोचने-विचारने और करणीय कर्म को करने की जिजीविषा को गति देने के रूप में देखा जाना चाहिए। कोई भी शोध या अन्वेषण लगने के लिए भले ही विषयगत या विधागत अलग लगते हैं किंतु उनसे भी पारस्परिकता या अतःसंबद्धता को ध्यान में रखकर निष्कर्ष की दूरी समाज के हित में तय करना अपेक्षित रहता है। मुझे लगता है कि शोध से शोधकर्ता के जिज्ञासा को सिर्फ संतुष्टि ही नहीं मिलती बल्कि जीवन के व्यवहारिक समस्याओं का इससे समाधान मिलता है।

आज के इस कठिन दौर और परिस्थिति में शोध का कार्य अधिक चुनौती पूर्ण होने के कारण विशेष दायित्व बोध की मांग करता है। वर्तमान समय और समाज सर्वग्रासी राजनीति की चपेट में है। मनमाने तरीके से शोध और खोज को आजकल बढ़ावा और आकार दिया जा रहा है ताकि एक खास तरह का पोलराइजेशन कर राजनीति अपना हित साध सके। इसलिए सामाजिक ताना-बाना बिगाड़ने वाली कुटिल शक्तियों के हाथ की कठपुतली न बन कर अपितु सामाजिक समरसता और भेदभाव रहित समाज को मजबूती प्रदान करने की दिशा में शोध कार्य करने की आवश्यकता है। मैं व्यक्तिगत स्तर पर पूरे मनोयोग से यह मानता हूं कि शोध कार्य बौद्धिक दायित्व के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक जबावदेही भी है।

प्रो. निरपति प्रजापति इस विषम शैक्षणिक-बौद्धिक समय में निष्पक्ष और श्रेष्ठ शोध कार्य को प्रोत्साहित करने और उसे समय के शैक्षणिक-बौद्धिक गलियारे में प्रासंगिक और प्रदेय पूर्ण बनाने के लिए निष्काम कर्मयोगी सा लगे हुए हैं। उनकी रचनात्मक जिजीविषा प्रणम्य है। इसी क्रम में सम्पूज्य हैं वे प्राध्यापक एवं बौद्धिक साथी जो इस शोध यज्ञ में अपने-अपने वैचारिक समिधा से शोधकार्य को सफली भूत किये हैं। यह शोध पत्रिका आज की भटकी और उन्मादी युवा पीढ़ी के लिए आकाश दीप का कार्य भविष्यत समय में करेगी, ऐसा प्रो. निरपति प्रजापति जी की बौद्धिक कर्मठता से सहज ही महसूस करता हूं। यह जरूर है कि आज विचारधाराओं की आंधी के बीच हम सब जीने के लिए अभिशप्त हैं। अस्तित्ववाद, नारीवाद और मार्क्सवाद के बीच न जाने और कितने 'वाद' हम सब को अपनी ओर आकर्षित करने के दाव लगा रहे हैं। इनकी एकांगी सोच में शामिल होने का मतलब है खुद को एकांगी बना लेना। ऐसे कठिन समय में शोध कार्य की प्रासंगिकता और उसके निहितार्थ अपनी शोध प्रविधि में कुछ अधिक ही मूल्यवान हो उठे हैं। वह भी तब जब मनुष्य जाति के सामने तृतीय विश्व युद्ध का खतरा तेजी से मंडरा रहा है। बावजूद इन विपरीत स्थितियों-परिस्थितियों में, आइए मिल-जुलकर सकंल्प लें कि हम अपनी उपस्थिति से, अपनी रचना धर्मिता एवं शोध-खोज से बेहतर शैक्षणिक और सामाजिक जीवन रचेंगे ताकि हर सांसें प्रकाश गीत गा सकें।

"शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त,
विकल बिखरे हैं हो निरूपाय।
समन्वय उनका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय ।।"

'शोध उत्कर्ष' के इस अंक में प्रकाशित अच्छे एवं गंभीर शोध पत्र के लिए सभी सम्मानित साथियों को हार्दिक बधाई। नव वर्ष 2025 आप सब के लिए शुभ और मंगलकारी हो । इन्हीं सद्भावना के साथ....

प्रो. अनिल सिंह 'सत्यप्रिय'
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष अंग्रेजी
प्रधानमंत्री कॉलेज आफ एक्सीलेंस, सीधी (म.प्र.) 486661
मो.9424746496 /9131912668

'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश' पुस्तक का अनुशीलन

प्रो. चंद्रकांत सिंह
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय,धौलाधार परिसर-01,धर्मशाला, जिला-काँगड़ा हिमाचल प्रदेश-176215
ईमेल- chandrakants166@hpcu.ac.in मोबाईल-9805792455

'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश' पुस्तक शत्रुघ्न प्रसाद जी द्वारा लिखित है| इस पुस्तक में लेखक ने मध्यकालीन समाज को सूक्ष्मतापूर्वक उभारा है| भारत का पूर्वमध्यकाल जहाँ सामाजिक-राजनीतिक रूप से विलक्षण है, वहीं दमन, अवमानना एवं पीड़ा की लम्बी कथा कहने वाला है | भारत का प्राचीनकाल कला, साहित्य एवं दर्शन की वैभव-कथा कहता है | इस युग में राजनयिक एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टिजनता का विकास हुआ किन्तु जैसे-जैसे इस्लाम का भारत में आगमन हुआ, क्रमिक रूप से भारतीय चेतना सिकुड़ती चली गयी| मुहम्मद बिन कासिम, चंगेजखांएवं तैमूर लंगके आक्रमणों ने भारतीय जनता को भीतर तक झकझोर दिया| इनबाह्यआक्रमणों ने भारत की वैभव-कथा के चिह्नकोमिटाने के साथ गहरे असुरक्षा-बोध का भीनिर्माण किया, जिसमें भावी पीढ़ियाँ झुलसती रहीं | यह वह दौर है, जब इस्लाम पूरे वेग के साथ भारत में फैल रहा था और तलवार के बल पर हुकूमत एवं शरीयत की मनमानी व्याख्यादिखाई पड़ती है| ठीकउस वक्त जब इस्लाम सामाजिक-राजनीतिक रूप से वर्चस्व की मनमानीव्याख्या कर रहा था, भारत की सांस्कृतिक-धारा में अप्रत्याशितगिरावट दिखाई दे रही थी| दिल्ली सल्तनत के बाद मुग़ल सल्तनत की जो तवारीख लिखी गयी, वह दःखदही नहीं क्षोभ-युक्त है | हालांकिआरम्भ से इल्बारी एवं तुर्कीआक्रमण के बाद भारतीय संस्कृति में गिरावट दिखती है किन्तु उत्तर मुग़ल काल में यह चरम पर पहुँच गयी| औरंगजेब जब सत्तानशीं हुआ, उसने स्वयं को ज़िंदा पीर कहकर इस्लाम की मनमानी व्याख्यापेशकी| इस तरह यह काल जहाँ हुकूमत एवं सत्ता की दृष्टि से एकांगी है, वहीं इस काल में सामाजिक अवनतिके चिह्न भी दिखाई देते हैं| उपन्यासकार के रूप में शत्रुघ्न प्रसाद जी ने उत्तर मुग़ल काल की जो तस्वीर पेश की है, वह भयावह है | अपनी औपन्यासिक कृति में उन्होंने भारतीय संस्कृति कायथार्थरूप प्रस्तुत किया है, जो हिन्दू जाति में गौरव का संचार करने वाला है | ध्यान देने योग्य बात है कि लगभग सभी इतिहासकारों ने मध्यकाल को कलात्मक दृष्टि से उन्नति का काल कहा है, किन्तुध्यातव्य है कि यहाँ भोग एवं विलासिता का अतिरेक है | जो भी बाह्य उपकरण एवं सजावटहैं, कमोबेश सभी में आडम्बरयुक्त चमकहै | लेखक ने उपन्यास में इसे सुन्दर ढंग से रूपायित किया है | इस तरह यह औपन्यासिक कृति इतिहास की सुन्दर एवं सारगर्भित व्याख्या है | लेखक ने दाराशिकोह एवं औरंगजेब को आधार बनाकर भारतीयएवंइस्लामिकदर्शन के बीच सन्निहित अंतर को दिखाया है | मध्यकालीनसमय जब हुकूमत की सारी व्याख्या उलेमा करते थे और जनता हाशिए पर थी | उसे चित्रित करते हुए लेखक ने उन भारतीय चिंतकों को भी दिखाया है जिन्होंने अपने प्राणों को दांव पर लगाकर भारतीय चेतना की अभिरक्षा की| इस दृष्टि से यह कृति यथार्थ का प्रामाणिक पाठ कही जा सकती है जिसमें धर्म, दर्शन, राजनीति, संस्कृति सबका अंतर्भाव है |युद्ध के बाद जब दाराशिकोह को कैद कर हाथों में हथकड़ी डालकर जुलूस के साथघुमायाजाता है, उस दृश्य को पढ़कर पाठकगहरे नैराश्य से भर उठता है | एक गहरे रूप में यह नैराश्य ज़रूरीथा; क्योंकि इसके बाद भारतीयों में उत्साह एवं आशा की किरणें दिखती हैं जो आत्मिक भराव पैदा करती हैं | पीड़ादायक अवस्थिति का बिंब प्रस्तुत करते हुए लेखक कहते हैं- "लाहौरी दरवाजे से होता हुआ जुलूस आ रहा था | आगे-आगे हथियार बंद सिपाहियों के साथ कुछ दरबारी थे | एक हथिनी पर एक पुराना हौदा बंधा हुआ था | उसी हौदे में मैले कपड़ों में दाराशिकोह को बैठा दिया गया था | हाथों में हथकड़ी थी | जंग में हारे हुए दारा का सर झुका हुआ था | साथ में छोटा लड़का सिपर शिकोह भी था | उसके चेहरे पर खौफ छाया हुआ था | आँखों से आँसू आ जाते और फिर सूख जाते थे |"प्रस्तुत पंक्तियाँ महज दारा की पराजय नहीं हैं बल्कि इन पंक्तियों में पराभूत भारतीय संस्कृति दिखती है | दाराशिकोह तो केवल बाहरी प्रतीक भर है | कहीं गहरे इन पंक्तियों में सहमी हुईमानवता है जिसका दूर-दूर तक कोई नाम तकलेने वाला नहीं | जोभी इस संस्कृति के पक्ष में मुहब्बत का पैगाम पढ़ेगा उसे बेशर्त कठिन सजा मिलेगी | इस तरह दाराशिकोह मुहब्बत एवं अमन के मसीहा के रूप में दिखता है, वहीं औरंगजेब सत्ता के नशे में डूबे हुए व्यक्ति के रूप में दिखाई देता है जिसके पास तंग दिल ज़ज्बात के सिवा कुछ शेषनहीं | औरंगजेब की विजय सत्ता के मद, अहंकारएवं आकांक्षा की विजय है जिसमें सभी डूबते-तिरते दिखाई देते हैं| ऐसा लगता है कि दारा की शिकस्त के बाद जैसेन्याय, सद्भाव एवं खुशी क्षीण होती चली गयी| शत्रुघ्न प्रसाद की यह कृति मध्यकालीन आतंक को दिखाने वाली अनूठी रचना है, इसमेंउत्तर मुगलकालीन आधिपत्य तो दिखता ही है साथ ही भारत का आत्मविश्वास रह-रह कर छलकता है जिसे संतों, साहित्यिकों एवं चिंतकों ने पुरजोर ढंग से चित्रित किया | उत्तर मुगलकाल असुरक्षा का काल है जहाँ कुछ भी सुरक्षित नहीं | इतिहास साक्षी है कि दारा शिकोह की शिकस्त के बाद सब कुछ बदल गया | दाराशिकोह की बेटी, बादशाहशाहजहाँसब औरंगजेब की कैदगाह में डाल दिए गये | लेखक ने आलम आरा के आँसुओं एवं ज़ज्बातों को सूक्ष्मतापूर्वक दिखाया है | आलम आरा भावुकमिजाज़ की राजकुमारी है | लेखक ने प्रस्तुत कृति में उसकी संवेदना एवं भाव-चित्र को कुशलता के साथ उभारा है |लेखक यह भी दिखाते हैं कि उसका औरंगजेब की बेटी जेबुन्निसा से गहरा अनुराग है | आगरा जाते हुए वह स्वयं को निस्सहायएवं एकाकी अनुभव करती है | लेखक ने बिछोह, पीड़ा एवं संत्रास से भरे हुए पल को चित्रित करते हुए लिखा है कि - "दाराशिकोह की बेटी आलमआरा को जब आगरे के किले में भेजने की तैयारी हो रही थी | उस समय औरंगजेब की बेटी जेबुन्निसा उससे मिलने आती है | आलमआरा कहती है- "अब तो दुआओं के सहारे जीना है,जेबु !...अम्मीजान चली गयीं | अब्बा हुजूर खून से लबरेज ताबूत में बन्द कर दिये गये |...अब बाबा और फूफी का प्यार और बहन जेबुन्निसा की मुहब्बत...जी लूँगी |...यह भी बादेशाह-ए-गाजी की मर्जी पर मुनहसर है |"उपर्युक्त दृष्टांत अत्यंत मर्मान्तक है | यह वह क्षण है जब दाराशिकोह के शुभचिंतकों को चुन-चुन कर सलाखों के पीछे डालने की साजिश कार्य कर रही थी |

मध्यकाल की तवारीख में यह काल केवल झठी विजय एवं श्रेष्ठता का काल भर नहीं है, बल्कि यहाँ काल विलासिता, भोग एवं अनैतिक विस्तार का काल है| औरंगजेब केवल सत्ता भर नहीं चाहता बल्कि वह दारा की पत्नी आदि को जबरन पाना चाहता है ताकि उसकी जीत की मुनादी होती रहे | वह उदयपुरी बेगम को वासना का शिकार बनाना चाहता है |उसकी मंशा है कि दारा की हर पसंदीदा चीज़ को अख्तियार कर सके | उदयपुरी के ज़रिए लेखक ने अँधेरे में तड़पते हुए कोमल-हृदय को दिखाया है, जो बादशाह के खूंखार इरादों का प्रतिकार नहीं कर पाता | औरंगजेब काम-वासना का प्रतिरूप है, वह उदयपुरी को जीतकर एक अलग तवारीख लिखना चाहता है, यही नहीं अपहृत हिन्दू रानियों की

अस्मत से भी खेलना चाहता है | उदयपुरी बेग़म और असम की राजकुमारी जया की बातचीत में तनावपूर्ण स्थितिझलकती है | राजकुमारी जया और दाराशिकोह की पत्नी उदयपुरी बेग़म की पीड़ा में समानुभूति है | दोनों अवश हैं, दोनों निराश्रितहैं| यहाँ एक सादृश्य-बोध है जो राजकुमारी और उदयपुरी के हृदय को जोड़ता है | उदयपुरी नहीं चाहती कि किसी भी नारी के साथ उत्पीड़न हो, हर कोई स्वतंत्र रहकर जीवन जी सके, यही उसकी इच्छा है | उदयपुरी एवं असम की राजकुमारी जया का संवाद अत्यंत मार्मिक है | यहाँ लेखक ने स्त्री-स्वातंत्र्य की भावना को स्त्रियों के माध्यम से दिखाया है | स्त्री कोई ज़र-खरीद गुलाम नहीं | उसकी अपनी निजता है जिसे कोई भी बादशाह बलात अधिकृत नहीं कर सकता | राजुमारी जया कहती है- 'यदि प्रतिष्ठा के साथ जीना न हो तो प्रतिष्ठा के साथ मर जाना है | ....आप मुझ पर कृपा करें | मुझे बेटी मान लें |' जया के द्वारा सम्मान पाकर उदयपुरी भावुक हो जाती है, वह स्पष्ट कहती है- मरना नहीं, जया ! बाइज्जत जीना | तुम बच जाओ तो मैं समझूँगी कि मैं खुद ही बच गयी | आज की रात...स्याह रात...बेचैन शाही महले ....तुम्हें नई ज़िंदगी मिले |' इस तरह लेखक शत्रुघ्न प्रसाद ने मध्यकालीन साजिश के बीच इन स्त्रियों के माध्यम से स्त्री-चेतना की झलक प्रस्तुत करनी चाही है | लेखक ने प्रस्तुत कृति के द्वारा इतिहास की व्यवस्थित एवं मुकम्मल छवि पेश की है | यह इतिहास ख्यात तथ्य है कि औरंगजेब के साथ षडयन्त्रों में रोशन आरा बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती है | लेखक ने रोशन आरा के व्यक्तित्व में दबी हुयी कुंठा एवं अधिकार-भावना को दिखाया है | वह राजनीतिक रूप से चतुर एवं अवसरवादीहै| उसे पता है कि औरंगजेब के साथ उसके कुचक्रों में शामिल होकर ही उसे मान-सम्मान मिल सकता है | यही कारण है कि वह हर जगह साजिश रचती हुई दिखाई देती है | लेखककाली रात में उसके अंतर्मन की साजिशों को दिखाया है | वह लिखते हैं- " रोशनआरा तन्हाई में गौर करने लगी- मुअज्जम अपना गुट तैयार कर रहा है | वह उसके दबदबे में नहीं रह सकेगा | शाहजादा मुहम्मद सुलतान बंगाल में है | बहुत दूर है | आलम और अकबर छोटे हैं | आलम औरंगजेब के साथ है |.. अकबर के नाम पर दूसरा गुट बन सकता है | अकबर कब्जे में रह सकता है | मुगल हुकूमत उसके मुताबिक चल सकती है !...बस, यही तो तमन्ना रह गई है | और क्या है उसकी जिंदगी में !... कभी-कभी छिपकर ऐश... गुनाह है... गुनाह नहीं है |...मुगल शाहजादी की यही जिंदगी है !... सरगोशियों के दरम्यान शबाब की प्यास को...!! जिंदगी की हवस तड़पती रही और उम्र का कारवां गुज़रता रहा |...वह अकबर के नाम पर गुट तैयार करेगी | मुगल सल्तनत की ताली उसकी उंगलियों में रहेगी | अचानक उसे ख्याल आया कि आगरा में अब्बा हुजूर भी जोर आजमाईश कर सकते हैं | मिर्जा राजा मदद कर सकते हैं | यह सोचकर वह पसीने-पसीने हो गयी |"उत्तर मध्यकाल में जिस तरह दमन एवं आधिपत्य दिखता है, ऐसे में व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं स्व की आस्था का विकास करने वाली वृत्ति क्षीण दिखती है | लेखक ने इस अवस्थिति को दिखाने के साथ भारतीय जनता की जीवटता, सहिष्णुता एवं परिश्रम करने की विशेषताओं को उद्भासित किया है | यहाँ शासक बनावटी रूप में दिखता है और असमानता, अन्याय की आवाज़ बनकर रह जाता है | लेखक ने उसकी क्रूरता, तंगदिली एवं हठधर्मिता के बिंब तो उकेरे ही हैं साथ ही सूफी संतों, जनता, साहित्यकारों आदि की कारुणिकचीत्कार को भी चिह्नित किया है | जहाँ किसी के लिए नफरत, विद्वेष की भावना नहीं, बल्कि हर किसी के लिए शांति-अमन का पैगाम है | समाज को उत्कृष्ट बनाने के लिए आवश्यक है कि समाज के सभी तंत्र सफल हों, कारगर हों | सभी में एकजुटता हो, समाज को आगे ले जाने की भावना हो | किन्तु अत्यंत खेदजनक स्थिति है कि यह समय हिन्दू जाति केपराभव का समय है | विडम्बनापूर्ण समय में आचार्य जगन्नाथ एवं लवंगी का प्रेम एक आदर्श है जो सभी भारतीयों को दिशा देने वाला है |एक दासी पुत्री होकर भी लवंगी पत्नीव्रता स्वरूप को जिस तरह पेश करती है वह एक मिसाल है | वह किसी भी स्थिति में अपने पुत्र भवनाथ एवं पति का हाथ नहीं छोड़ती | पीड़ा एवं पराजय के क्षणों में जब भी आचार्य जगन्नाथ स्वयं को निरुपाय समझते हैं,लवंगी उनका साहस बनकर उभरती है | लवंगी के व्यक्तित्व में भारतीय नारी की स्नेह-भावना, समर्पण एवं कर्तव्य-चेतना एकाकार हो उठती है | लवंगी एवं आचार्य जगन्नाथ का प्रेम वायवीय नहीं है, वह जीवन में गहरे धँसा हुआ है | वे दोनों एक दूसरे के सहारे हैं, कथनी-करनी को सम रखते हुए दोनों ही मानवता की मिसाल हैं | लवंगी जहाँ भारतीय नारी का उदात्त रूप है, वहीं आचार्य जगन्नाथ भारतीय साहित्यकारों की जीवंत प्रतिमा हैं जोश्लाघनीय है | आचार्य जगन्नाथ के व्यक्तित्व में जहाँ एक ओर आचारगत दृढ़ता है वहीं भारतीय ज्ञान-चेतना का अविरल प्रवाह भी| वही किसी भी स्थिति में हार नहीं मानते यही भारतीय आदर्श है | विधर्मियों के द्वारा हिन्दू मंदिरों के तोड़े जाने पर, आस्थाओं का उपहास उड़ाये जाने पर भी वह धर्मच्युत नहीं होते बल्कि साहस के साथ खड़े होते हैं | यही उनकी जीत है जिसे पढ़कर पाठक भीतर तक भर उठता है | शाहजादा दाराशिकोह को उन्होंने धर्म की शिक्षा दी, भारतीय ब्रह्म विद्या को उन्होंनेअपने अन्तस् में धारण किया | वह भला कैसे कमजोर हो सकते थे, पूर्वजों की जीवटता उनका मार्गदर्शन कर रही थी | वह अन्दर से पराक्रमी और दृढ़ थे यह जगह-जगह उपन्यास में दिखता है | दाराशिकोह की मृत्यु के बाद सत्य को बचाने के लिए उन्हें यहाँ-वहाँ भटकना पड़ा किन्तु वह अधीर न हुए बल्कि सत्य की रक्षा के लिए सन्नद्ध रहे | जब विधर्मी औरंगजेब सब कुछ विनष्ट कर रहा था | आचार्य जगन्नाथ की चिंता भारतीय साहित्य को बचाने की थी | वह स्वयं द्वारा लिखित पुस्तकों को बचाना चाहते थे ताकि भारत की सांस्कृतिक-चेतना बची रह सके | अपनी पत्नी लवंगी से वह कहते हैं- "चल सकता हूँ | गोदावरी तट की ओर जा सकता हूँ | वहाँ बादशाह की पहुँच नहीं है | इन बच्चों को...इन ग्रंथों को बचाना आवश्यक है |...पिछले पाँच-छ सौ वर्षों में हजारों ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं ...नष्ट कर दिये गये हैं |...साहित्य का विनाश सबसे बड़ी हानि है,लवंगी |"

इस दहशत से भरे हुस समाज में सब कुछ अप्रत्याशित सा था | लोगों को डराकर-दबाकर रखने की स्थिति सी हद तक चली गयी थी कि अब भारतीय समाज में विरोध एवं अपमान का बदला लेने की प्रवृत्ति उभरने लगी थी | अब हर आदमी चाहता था कि इस दशशत से भरे हुए दौर का समापन हो ताकि आदमी अच्छे से अपना जीवन जी सके| हर तरफ हाहाकार का माहौल दिखाई दे रहा था | जब सरदारों का आतंक अपनी चरम पर पहुँच गया तो जनता उससे मुक्ति के उपाय खोजने लगी | लोगों के द्वारा इस अत्याचार से मुक्त होने के लिए कियी जाने वाले प्रयासों को इसी रूप में देखना होगा | गोकुल के द्वारा अपने गाँव के युवकों को सैनिक तंत्र में ढालने की प्रक्रिया को भी इसी में रूप में देखा जा सकता है | गोकुल के मानस का निरुपण करते हुए लेखक कहते हैं कि- "गोकुल ने सोचा कि अपने गाँव के सारे नौजवान रक्षा में खड़े हो जायेंगे । अब अपने गाँव-तिलपट को गढ़ बना देना है । सभी नौजवानों के हाथों में भाले देकर खड़ा कर देना है ।...पर कैसे ? मुगल सल्तनत से टकराना खेल नहीं है । ...यह फौजदार तो तलवार से ही खूनी खेल खेलता है ।"लेखक ने लोक में व्याप्त निराशा एवं हताशा को भी दिखाया है | प्रस्तुत कृति में वह दिखाते हैं कि जनता हर तरह के अनाचार से तंग आ चुकी थी और वह सार्थक समाधान चाह रही थी | इसलिए इस अराजक व्यवस्था को बदलने एवं शांति के सही संधान

लिए सन्नद्ध हो गयी थी | मुर्शिद कुली खां के आदमियों की आगजनी किसी छिपी नहीं थी | वे फसलों को बर्बाद करने के साथ,गरीब लोगों की झोपड़ियों में अकारण आग भी लगा रहे थे | इस कारण हर तरफ चिंता एवं पराजय का भाव दिखाई दे रहा था | जनता पूर्ण समाधान चाह रही थी | इसलिए लोगों को गोकुल के द्वारा उठाये जा रहे कदम ठीक जान पड़ रहे थे | लेखक ने सी और इशारा किया है | वह लिखते हैं- "कुछ ने हाथ उठा दिये। कुछ सोचने लगे कि मुर्शिद कुली खां का जुल्म बढ़ता जा रहा है। कहीं उसके सिपाही हरे-भरे खेतों को रौंद देते हैं। कहीं उनकी गायों को मार कर खुराक बना लेते हैं। कभी घर की बेटी-पतोहू पर कुदृष्टि डालते हैं। दर से आती डोली को गायब कर देते हैं। जब-तब बारातियों से मुठभेड़ हो जाती है। गाँवों में हाहाकार फैल जाता है। अब मुकाबला करना होगा।... लेकिन दिल्ली की फौज से कब तक मुकाबला हो सकेगा ? गाँव के जाट किसान कैसे मुकाबला करें ?... पर अमीचंद की रक्षा होनी चाहिए।"[6]

युवक अमीचंद आभूषण के व्यापारी का बेटा था किन्तु स्वाभाविक रूप से वहा कलाकार था | जिसे बाँसुरी बजाना पसंद था | वह प्राकृतिक रूप से अमन और शान्ति को पसंद करता था किन्तु दहशत से भरे हुए माहौल में उसे कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था | चूंकि वह सूफी संत सरमद साहब के निकट था इसलिए औरंगजेब उसे भी नेस्ते नाबूत कर देना चाहता था | अमीचंद अपनी बाँसुरी लेकर यहाँ-वहाँ फिरता है, वह चाहकरभी शान्ति नहीं प्राप्त का पाता, क्योंकि दहशत भरे माहौल में कलाकारों एवं कलावंतों के लिए जगह नहीं थी | जो दाराशिकोह के निकट थे सभी को औरंगजेब अपना विरोधी समझता है | इसलिए हर उस आवाज़ को वह दबाना चाहता है | इस तरह तत्कालीन शासन अत्यंत कठिन हो गया था | लेखक लिखते हैं कि- "अमीचन्द सोच रहा था कि उसके कारण रक्त बहेगा- यह उचित नहीं है। वह यहाँ से दूर चला जायेगा।... बुंदेलखंड की पहाड़ियों की तरफ चल देगा। उधर कोई संत आ गए हैं। उनके साथ भटकता रहेगा। बाँसुरी बजायेगा। बाँसुरी बजाना नहीं छोड़ेगा। यदि छोड़ देगा तो सरमद साहब की रूह को शांति कैसे मिलेगी ? बाँसुरी का स्वर विद्रोह का स्वर तो नहीं है। कान्हा ने अपनी वंशी से सबको प्रेम का संदेश दिया था।...उसने भी सूफी दरवेश मुहम्मद सईद सरमद का शिष्य बनकर उनके प्रेम के संदेश को बाँसुरी से गूंजाया है। वह कान्हा की बाँसुरी को... सरमद साहब की बाँसुरी को छोड़ नहीं सकता। वह खुद इस सल्तनत से दूर चला जायेगा।"[7]प्रस्तुत कृति में लेखक ने सामाजिक-राजनीतिक जड़ता को कई पात्रों के ज़रिए दिखाया है, यहीनहीं उन्होंने पशु-पक्षियों के माध्यम से मानवीयस्वतंत्रता को दिखाया है | लेखक ने आज़ाद पक्षियों और आम आदमी के सुख-दुःख आदि की तुलना की है | इस तुलना में सापेक्षिक रूप से स्वतंत्रता एवं परतंत्रता दोनों ही दिखाई पड़ते हैं | लेखक का मानना है कि प्रकृति में सुन्दरता तो है किन्तु शिकारी उस आह्लादकारी सुन्दरता को भी छीन लेना चाहतेहैं | भवनाथ,लवंगी एवं आचार्य जगन्नाथ द्वारा मोरों को देखकरउपजी सौन्दर्य भावना का चित्रण करते हुए लेखक ने सुंदर ढंग से उसे बानी देनी चाही है | वह लिखते हैं कि- "भवनाथ मन ही मन प्रसन्न हुआ वह सड़क के पार पेड़ों के झुरमुट में विचरण करते मोरों को देखने लगा। पंडितराज भी मोरों को देख रहे थे।
लवंगी ने भी उन मोरों को देखा। दो-तीन मोरों ने अपने पंख फैला दिये थे। पंख का सौंदर्य सबको भा गया। पंडित राज गुनगुनाने लगे...लवंगी ने महसूस किया कि ये मोर तो हुकूमत की दहशत से दूर हैं। ये आजाद हैं। लेकिन ये पंछी आजाद कहाँ हैं ? शिकारी इनका भी शिकार करते हैं। यह शाह-सरदार और राजा सामंत इन्हें हजम कर जाते हैं। ...पंखों की सुंदरता और सुंदरता की शायरी सब खत्म! ....आदमी कितना खौफनाक है ! कितना खुदगर्ज है !!" औरंगजेब जिस तरह सत्ता पर काबिज होकर राज्य का प्रसार चाहता था, जिस तरह सियासी दाव-पेंच के माध्यम से भारतीय भारतीय विचारों को मिटाना चाहता था। उसकी मन:स्थिति को लेखक रेखांकित करते हैं। उसके भीतर जो विचारों का आलोड़न चल रहा था,उसे व्यक्त करते हुए उसके स्वगत कथन को चित्रित करते हुए वह कहते हैं- "यह बेगैरत और बेपरवाह सरदार मुगल सल्तनत के पाये हैं।

इन्हीं के भरोसे हिन्दोस्तान पर हुकूमत करनी है !! अंदर और बाहर के दुश्मनों से मुकाबला इन्हीं के जरिये होगा !!! मगर मुगलों ने इस मुल्क पर शान से हुकूमत की है- अपने वतन से आकर। साथ ही ऐयाशी भी की है।...लेकिन मैं सिर्फ शानदार हुकूमत का ख्वाब देख रहा हूँ। हिमाला से समंदर तक मुगल सल्तनत का नाम तवारीख़ में दर्ज कर देना चाहता हूँ। इसलिए मैं एक हाथ में दोनोंईमान और दूसरे हाथ में शमशीर की ताकत लेकर हर दुश्मन को पस्त कर देनी चाहता हूँ। काफिरों के मुल्क दारुल हर्ब को दारुल इस्लाम में बदल देना चाहता हूँ। चुनांचे इन मुगल सरदारों को सही राह पर लाना है। इन्हें दोनों ईमान की रौह पर चलना है।" उपर्युक्त कथन में लेखक नेऔरंगजेब की महत्वाकांक्षा को दिखाया है | शानो-शौकत, वर्चस्व आदि को औरंगजेब के व्यक्तिव में देखा जा सकता है | इस तरह प्रस्तुत कृति के द्वारा लेखक ने भारत की मध्यकालीन सत्ता, राजनीति एवं सामाजिक अवधारणा को दर्शाना चाहा है जिसे पढ़कर न केवल तत्कालीन शासन-प्रशासन की झलक मिलती है बल्कि दाराशिकोह की नेक-दिली की छाया भी दिखाई देती है | दारा के व्यक्तित्व के विस्तार के अलावा सूफी -संतों, दरवेशों एवं अमनपसंद लोगों की सामाजिक लड़ाई को भी कृति भिन्न ढंग से प्रस्तुत करती है |

सामाजिक-राजनीतिक बोध के साथ कृति की भाषा सरल-शब्दों में मध्यकालीन राजनीति को उद्भासित करती है | प्रस्तुत कृति में भाषा के स्तर पर दुरुहता या अरबी-फारसी शब्दोंका घटाटोप नहीं है, न ही दरबारी शिष्टाचार या जीवन-बोध से फिसलन है | तथ्यों की संतुलित व्याख्या है, जिससे रचना बड़ी बनती है | ऐतिहासिक उपन्यास लिखना कठिन चुनौती है | जब भी साहित्यिक उपन्यास लिखे जाते हैं, कई बार भावनाओं या बुद्धि के क्षेत्र में भटकते हुए जान पड़ते हैं, यह उपन्यास भटकता कहीं नहीं | लेखक ने तत्कालीन जीवन-बोध को समझा है, उसके बाद लिखा है अतएव बौद्धिक फिसलन की बजाय इसे ऐतिहासिक दस्तावेज कहें तो अच्छा रहेगा | इससे पाठकों को भारतीयइतिहास को साहित्य की दृष्टि से पढ़ने की दृष्टि भी मिलेगी | इतिहास को पढ़ना भी सबके बस की बात नहीं होती | इतिहास तथ्यों की भरमार है जो नीरस भी है और सरस भी | किन्तु जब लेखक इतिहास का साहित्य में पुनर्रचाव करते हैं तो रचना बड़ी हो जाती है | यह रचना इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि लेखक ने पाठक को पढ़ने के लिए साहित्यिक इतिहास दिया है जो पाठक के मन को गुदगुदायेगा भी और सचेत करते हुए उसेसामाजिक भूमिका के प्रति आशान्वित करने का काम भी करेगा | जब पाठक अपने देश, संस्कृति एवं सभ्यता को जानते-समझते हुए आगे बढ़ता है,जब उसकी चित्त का सही मायनों में भाव होता है तो रचना बड़ी हो जाती है | इस अर्थ में यह रचना बड़ी है और व्यापक भी....

****

संदर्भ :-

1. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण : 2016 पृष्ठ संख्या-07
2. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण : 2016 पृष्ठ संख्या-54
3. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृष्ठ संख्या-89
4. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण : 2016 पृष्ठ संख्या-79
5. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण : 2016 पृष्ठ संख्या-104
6. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण : 2016 पृष्ठ संख्या-105
7. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण : 2016 पृष्ठ संख्या-108
8. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण : 2016 पृष्ठ संख्या-107-108
9. शत्रुघ्न प्रसाद, 'शहज़ादा दाराशिकोह : दहशत का दंश', वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण : 2016 पृष्ठ संख्या-121

प्रसाद की रचना में नारी चेतना

श्री राम सजीवन भास्कर
असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी
राजकीय महिला महाविद्यालय झांसी (उ.प्र.)

शोध सार- जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिंदी साहित्य के छायावाद युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक थे। हिंदी काव्य में छायावाद की स्थापना उनके ही द्वारा की गई,जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में न केवल माधुर्य की रससिद्ध धारा का प्रवाह हुआ, बल्कि जीवन के सूक्ष्म एवं व्यापक आयाम के चित्रण की शक्ति भी संचित हुई। प्रसाद जी आधुनिक हिंदी साहित्य के गौरवपूर्ण व महान लेखक हैं। जिनकी लेखनी से हिंदी साहित्य की सभी विधाएं सिंचित हुई। उनकी प्रतिभा का निरूपण कविता, कहानी, निबंध, उपन्यास, नाटक और आलोचना आदि सभी रूपों में देखा जा सकता है। जिससे हमारे साहित्य की चेतना सबल व सप्राण हो उठी।प्रसाद जी अपनी रचनाओं में जिस प्रकार नारी का सशक्त वर्णन किये हैं। वह तत्कालीन समाज के सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध एक सशक्त आवाज है। प्रसाद की रचनाओं में नारी समाज की रुढ़िवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध खड़े होकर; अपनी अस्मिता, स्वाभिमान की रक्षा के लिए संघर्ष करती हुई दिखाई पड़ती है। प्रसाद के रचनाओं में वर्णित नारियों के विषय में रामचंद्र तिवारी लिखते हैं।-
"नारी के व्यक्तित्व में ममता, श्रद्धा, त्याग, शक्ति, शौर्य ,छल, घृणा ,प्रपंच, ईर्ष्या और विलास के विरोधी धाराओं का; कभी अलग-अलग कभी एक साथ गुम्फन और प्रकृति और मानव का संघर्ष, संयोग का धूप-छांव अंकन, नियत के विधान और मानवीय प्रयत्न दोनों के सहयोग से, मानव के उत्थान-पतन का चित्रण, भौतिक उपादानों को आध्यात्मिक महिमा से मंडित करने की अद्भुत कला, अमूर्त भावनाओं और मनोवृतियों को मूर्तिमत्ता प्रदान करने की क्षमता, प्रत्यक्ष और गोचर रूप से परे रहस्यमई, सौंदर्य और सत्य निरूपण के लिए प्रसाद चिर और अमर रहेंगे।"-[1]

कुंजी शब्द - नारी, अस्मिता, समाज, ममता, छायावाद सामाजिकता, ऐतिहासिक आदि।

स्त्री पुरुष का साथ आदिकाल से चला आ रहा है प्राचीन शास्त्रों में भी स्त्री को प्रेम की अर्धांगिनी माना जाता रहा है। स्त्री और पुरुष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पुरुष के जीवन को सार्थक नारी ही करती है। नारी ने अपनी दया, ममता, वात्सल्यता, करुणा, त्याग, प्रेम, कोमलता एवं मधुरता से पुरुष की कठोरता को कम करके उसके नीरस जीवन में प्रेम व ममता की अजस्र धारा प्रवाहित करने का काम करती रही है।

नारी को हिंदी साहित्य में अनेक रूपों में चित्रित किया गया है, परंतु यदि हम जयशंकर प्रसाद जी की बात करते हैं; तो उनकी रचनाओं में नारी का कई रूपों में वर्णन मिलता है। प्रसाद जी जिस युग के रचनाकार थे। उस युग में नारियों की स्थिति अति दयनीय थी। स्त्रियों को उनके मौलिक अधिकार से भी वंचित रखा जाता था। समाज में उन्हें दोयम दर्जे का स्थान प्राप्त था। उन्हें विभिन्न प्रकार की सामाजिक कुरीतियों जैसे:- सती प्रथा, बाल विवाह, पर्दा प्रथा आदि का सामना करना पड़ता था। जिससे नारियों का जीवन नर्क के समान था। प्रसाद जी अपनी रचनाओं के माध्यम से नारी के महत्व और अस्तित्व की पहचान कराई। प्रसाद की नारी पात्रों की एक अलग पहचान है। उन्होंने ऐसी नारी पात्रों की कल्पना की जो समाज में परिवर्तन लाना चाहती थी तथा नारी के अस्तित्व को स्थापित करना चाहती थी ।प्रसाद की रचनाओं में नारी एक ओर कोमल भावना वाली है; तो वहीं दूसरी ओर अपने आत्म सम्मान के लिए सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोही भावना अपना कर संघर्ष करती हुई भी दिखाई देती है। प्रसाद के नारी पात्रों के संबंध में जयनाथ नलिन कहते हैं:-"प्रसाद जी ने अपने हृदय की समस्त कोमलता, कल्पना की रंगीन भावना की स्निग्धता, कला की सफलता, नारी चरित्र के भव्य निर्माण में प्रयुक्त की है।"
" एक खास प्रकार के नारी पात्रों के सृष्टि में प्रसाद जी अद्वितीय हैं।जो अपने निश्छल प्रेम, त्याग और बलिदान से पाठकों के मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं। आकाशदीप की चंपा, देवव्रत की सुमाता, और पुरस्कार की मधुलिका आदि की अनुपम नारी सृष्टि है।नियति और समाज से एक साथ संघर्षरत नारी का ऐसा चित्रण दुर्लभ है।"-[2]

प्रसाद के साहित्य का आधार देखा जाए तो ऐतिहासिक रहा है; परंतु उनके पात्र तत्कालीन समाज की चुनौतियों के अनुकूल हैं। इसीलिए आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने कल थे। प्रसाद युग भारतवर्ष का पराधीन युग था। जो स्वतंत्रता के संघर्षों व गांधी के आंदोलन से प्रेरित था। उस समय पुरुषों के लिए ही अपने कर्तव्यों का निर्धारण करना कठिन था। स्त्रियों के लिए तो यह दुगनी चुनौती थी। इस प्रकार प्रसाद जी आज से एक सदी पहले अपनी रचनाओं के माध्यम से नारी के ऐसे रूप को गढ़ रहे थे। जो आज के समय में भी प्रगतिशील व प्रासंगिक है। प्रसाद के यह नारी पात्र स्वावलंबी और स्वाभिमानी है। 'गुदड़ी के लाल कहानी की बुढ़िया सबसे यही कहती है। मैं नौकरी करूंगी, कोई मेरी नौकरी लगा दे। इस कहानी में प्रसाद बुढ़िया के माध्यम से उसके स्वाभिमान को उद्घाटित करते हैं। बुढ़िया की बेटी है वह भी कुछ धन कमा लेती थी; परंतु बुढ़िया का विश्वास था कि कन्या का धन खाने से उस जनम में बिल्ली, गिरगिट और न जाने क्या-क्या होना पड़ेगा। बुढ़िया को अपने स्वाभिमान पर पूर्ण विश्वास था। रामनाथ बनिया बुढ़िया को काम पर रख लेता है, और जब एक दिन बुढ़िया को मूर्छा आ जाती है; तब बनिया बुढ़िया को पेंशन देने की बात करता है, तो बुढ़िया का स्वाभिमान जाग जाता वह कहती है ' मैं बिना किसी काम किये इसका पैसा कैसे ले सकती हूं।' स्वाभिमानी बुढ़िया की यह वाक्य पाठक के हृदय को झकझोर देता है।

प्रसाद के नारी पात्रों में एक ही वस्तु व व्यक्ति के प्रति, प्यार और घृणा की तीव्र भावना समान रूप से पाई गई है। यह भावना आकाशदीप की चंपा और पुरस्कार की मधुलिका की भावना में देखा जा सकता है। पुरस्कार की मधुलिका अरुण को प्राण दंड मिलने पर बदहवास होकर आ खड़ी होती है, और राजा द्वारा पुरस्कृत किए जाने पर स्वयं के लिए प्राण दंड मांगती है। यह उसके व्यक्तिगत प्रेम व राष्ट्र प्रेम की चरम सीमा ही है। जो उससे कहलवाती है कि-" मुझे भी प्राण दंड मिले।"-[4]

इसी तरह आकाशदीप की नायिका चंपा जो बुद्ध गुप्त से प्यार करने लगती है, लेकिन जैसे ही उसे संदेह होता है कि उसके पिता का कातिल बुद्ध गुप्त ही है। तो चंपा बुद्ध गुप्त से दूरी बना लेती है और

विरक्तों की तरह जीवन व्यतीत करने लगती है। वह बुद्ध गुप्त से कहती है कि- "विश्वास! कदापि नही बुद्ध गुप्त! जब मैं अपने हृदय में विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिए दे दिया,, तब मैं कैसे कहूं, मैं तुमसे घृणा करती हूं, फिर भी मैं तुम्हारे लिए मर सकती हूं। अंधेर है जल दस्यु तुम्हें प्यार करती हूं।"-[5]प्रसाद जी की सामाजिक विचारधारा जो उनके उपन्यासों तथा नाटकों में परिलक्षित होती है। वह समाज में व्याप्त धार्मिक आडंबर, सामाजिक विषमता आदि है।जिसे सामने रखकर उन्होंने अपने नारी पात्रों को महत्व प्रदान किया है।

तितली उपन्यास में प्रसाद जी का नारीवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उपन्यास में मूर्तिमान नारीत्व आदर्श भारतीय पत्नी भाव के दर्शन होते हैं। तितली उपन्यास ग्रामीण जीवन और कृषि को केन्द्र में रखकर लिखी गई एक नारी की कहानी है। तितली की नायिका की छवि एक आदर्श प्रेमिका और एक आदर्श पत्नी की है। तितली जो नायिका है वह प्रसाद की ऐसी नारी पात्र है। जिसमें स्वाभिमान का तीव्र भाव है। उसके पति मधुबन को सजा और उसके पूर्वजों को शेरकोट से बेदखल हो जाने पर तथा बनजरिया पर लगान लग जाने पर, इतनी विपरीत परिस्थितियों में भी, वह किसी के आगे हाथ नहीं फैलाता है; बल्कि वह खुद मेहनत करके लड़कियों की पाठशाला चलाती है। इसमें प्रसाद जी स्त्रियों की शिक्षा पर बल देते हैं, क्योंकि एक शिक्षित नारी ही नारी समाज को शिक्षित बना सकती है। वह अपने पुत्र को स्वयं पालती है। इस कठिन समय में भी वह अपने ही अवलंब पर स्वाभिमान पूर्वक जीना चाहती है। इस तरह वह अपने अस्तित्व को बचाए रखने में समर्थ होती है।

उपन्यास 'इरावती' की नारी पत्र इरावती जो इस उपन्यास की नायिका है। वह एक अज्ञात कुल शीला बालिका है । जिससे महा दंडनायक पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र प्रेम करता है; परंतु गुरुजनों के विरोध के कारण, वह उसे छोड़कर चला जाता है। तब इरावती महाकाल मंदिर में देवदासी का जीवन व्यतीत करती है। कई बार वह बृहस्पति मित्र की कामुक को दृष्टि का शिकार बनती है, फिर भी वह अपने कष्टों को अपने हृदय में दबा कर रखती है, और चाहती है कि वह किसी के सहानुभूति का पात्र ना बने। अग्निमित्र से कहे इन शब्दों में उसका स्वाभिमान व्यक्त होता है।-" स्त्री के लिए, जब देखा कि स्वावलंबन का उपाय कला के अतिरिक्त दसरा नहीं, तब उसी का आश्रय लेकर जी रही हूं। मुझे अपने में जीने दो।"-[6]

प्रसाद जी ने नारी के गौरव, मान- मर्यादा के समाज के रूढ़िवादी सोच पर कर प्रहार किया। ध्रुवस्वामीनी नाटक की नायिका 'ध्रुवस्वामीनी' का आत्म गौरव जागृत होता है। वह शक शिविर में जाने के लिए, स्पष्ट इनकार कर देती है, और कहती है:-" यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते।"-[7]

प्रसाद जी के नारी पात्रों में देश और राष्ट्र के लिए असीम सम्मान है। वह अपने को राष्ट्र के लिए समर्पित करने से भी पीछे नहीं हटती हैं। चंद्रगुप्त नाटक में तक्षशिला नरेश अपने पुत्र आम्भीक के प्रभाव में रिश्वत लेकर यवनों को भारत में आक्रमण करने का मार्ग दे देते हैं। इससे क्रुद्ध होकर तक्षशिला नरेश की पुत्री अलका, अपने पिता व भाई से विद्रोह करके; राष्ट्र के लिए जन आंदोलन चलाती है। अलका द्वारा गाया गया जागरण गीत:-

"हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।।अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो। प्रशस्त पुण्य पंथ है,बढ़े चलो बढ़े चलो।।"-[8]

चंद्रगुप्त नाटक में प्राय सभी स्त्री पात्रों में देश प्रेम दिखाई देता है। प्रसाद की नायिकाएं कल्याणी, मालविका, कर्नेलिया, सुहासिनी मात्र प्रेमिकाएं ही नहीं बल्कि उनमें आत्मसम्मान और त्याग की ज्योति भी है। प्रसाद जी ने अपने नाटक को ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण के आधार पर रचा है। उनकी स्त्री पात्र ऐतिहासिक और कल्पित दोनों हैं।

वस्तुत: जयशंकर प्रसाद मुख्य रूप से कवि थे। उनका भावुक हृदय प्राय: नारी प्रेम और सौंदर्य जैसे सरस एवं मनमोहक विषयों में अधिक रमा। उनके काव्य की मूल चेतना, प्रेम और सौंदर्य है। प्रसाद जी सौंदर्य को एक उदात्त एवं पवित्र भावना मानते हैं। जिसमें वासना का लेस भी ना हो। आंसू में नायिका के पावन तन की शोभा निरूपित करते हुए वे कहते हैं:-

"चंचला स्नान करे आवे,चंद्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा,आलोक मधुर थी ऐसी।...."[9]

आंसू में नारी वासना का प्रतीक नहीं है, बल्कि पुरुष के अंधकारमय जीवन में आलोक की तरह है।

अपने प्रसिद्ध महाकाव्य कामायनी, जिसमें कुल 15 सर्ग हैं।श्रद्धा सर्ग में प्रसाद जी संसार में जो कुछ भी सुंदर है। वह परमात्मा का ही स्वरूप है के आधार पर; श्रद्धा के सौंदर्य का निरूपण बड़े मनोयोग से करते हैं। मनु ने जब श्रद्धा को पहली बार देखा तो, वह एक सुंदर दृश्य के रूप में दिखाई पड़ी। जिसके अंग प्रत्यंग अत्यंत सुंदर थे ।वह फूलों से लदी हुई सुकुमार लता जैसी प्रतीत हो रही थी :-

"और देखा वह सुंदर दृश्य,नयन का इंद्रजाल अभिराम।
कुसुम वैभव में लता समान,चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।।"-[10]

प्रसाद के काव्य में स्थूलता एवं मांसलता का नितांत अभाव है। नारी के बाह्य सौंदर्य के साथ-साथ उसके आंतरिक सौंदर्य का भी उद्घाटन किया गया है। नारी अपने हृदय में निहित प्रेम, त्याग, दया, ममता, करुणा, क्षमा, माधुर्य आदि गुणों को, और अपने जीवन के स्वर्ण स्वप्न को पुरुषों पर अर्पित कर चुकी है; इसलिए नारी श्रद्धा का पात्र है, जो जीवन में अमृत रसधार की तरह प्रवाहित है:-

"क्या कहती हो ठहरो नारी! संकल्प अस्रु जल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही, जीवन के सोने से सपने।
नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में।"-[11]

निष्कर्ष - प्रसाद जी की रचनाओं के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनकी रचनाओं में जो स्त्री पात्र पाई जाती हैं। वह ऐतिहासिक एवं काल्पनिक दोनों तरह की हैं। प्रसाद की स्त्री पात्र पुरुष की प्रेरक शक्ति होने के साथ-साथ उनमें समाज की व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह भी है। उनमें त्याग, बलिदान, दया, ममता, करुणा, क्षमा आदि गुणों के साथ -साथ स्वाभिमान के लिए तथा पितृसत्ता; जो समाज की मानसिकता में हावी है, के विरुद्ध विद्रोह भी है। उनमें साहस और जोश है तो दूसरी ओर गम्भीरता है। जिससे वे अपने देश, समाज एवं परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन भी करती दिखाई पड़ती हैं। प्रसाद की स्त्री पात्र नेतृत्व स्वीकार कर पूर्ण रूप से राजनीति में सक्रिय भी है।वे उदात्त आदर्श स्थापित करने वाली हैं। प्रसाद के नारी पात्रों में ऐसी पात्र भी हैं, जिन्होंने अपने चरित्र को स्मरणीय बना दिया जैसे:-चम्पा, मधुलिका, ध्रुवस्वामिनी, अलका, तितली, देवसेना,इरावती, श्रद्धा आदि। जिन्होंने अपनी शील कर्त्तव्यपरायणता और त्याग के बल पर समाज को नतमस्तक होने पर मजबूर कर दिया।वे स्वयं पुरुषों पर आश्रित न होकर स्वावलंबी और संघर्षी हैं।

****

संदर्भ:-
1- हिंदी गद्य का साहित्य रामचंद्र तिवारी संस्करण 12वां पृष्ठ 733।
2- हिंदी साहित्य का इतिहास संपादक डॉ नागेंद्र सह संपादक डॉक्टर हरदयाल संस्करण तिथि पृष्ठ 566।
3-प्रतिध्वनि कहानी संग्रह जयशंकर प्रसाद।
4-आंधी कहानी संग्रह जयशंकर प्रसाद।
5- तितली उपन्यास जयशंकर प्रसाद वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 2005।
6- इरावती उपन्यास जयशंकर प्रसाद लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद 2015।
7- ध्रुवस्वामिनी नाटक जयशंकर प्रसाद।
8-चंद्रगुप्त नाटक जयशंकर प्रसाद प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली पृष्ठ 126
9- आंसू कविता जयशंकर प्रसाद विकीपीडिया।
10- कामायनी जयशंकर प्रसाद सरस्वती प्रेस प्रकाशन इलाहाबाद श्रद्धा सर्ग पृष्ठ 29।
11-कामायनी से शंकर प्रसाद सरस्वती प्रेस प्रकाशन इलाहाबाद लज्जासर पृष्ठ 53।

हरमहेन्द्र सिंह बेदी जी के काव्य में समाज और मनोजगत

शिल्पा भाटिया
शोधार्थी (हिन्दी विभाग)
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
धौलाधार परिसर-एक,धर्मशाला,जिला-काँगड़ा,हि.प्र.-176215

शोध-सार:-
साहित्य को समाज का आयना माना गया हैIजब भी मनुष्य की भावनाओं का सैलाब उठा है,उसने कविता की शरण में ही सुकून पाया है I कविता आज से नहीं बल्कि आदिकाल से लिखी और पढ़ी जा रही है Iहर देश और काल में काव्य की प्रासंगिकता रहती हैI जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होता रहा ,कविता का विषय भी समय और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहाIसमकालीन हिंदी कविता में समाज में संचित प्रमाणिक और व्यवहारिक जीवनानुभूतियों का सच व्यक्त हुआ है I कवि समाज में जो कुछ देखता है और जिन परिस्थितियों को अनुभव करता है,उन विचारों को अपनी कविता के माध्यम से सामने रखता है I ''कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है,जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है I''[1]

बीज शब्द -समाज,मनोजगत,विचार,कविता,अनुभूति,समकालीन, समस्या आदिI

प्रस्तावना-
डॉ हरम्हेंदर सिंह बेदी जी समकालीन कविता के कवि हैंIकिसी भी कवि की अनुभूति और वैचारिक दृष्टि बहुत पहले से जीवन की परिस्तिथियों से प्रभावित रहती है,जिससे वर्तमान का निर्धारण होता हैI जो की रचना करते समय रचना की बुनावट में अपनी भूमिका रखती हैI बेदी जी ने अपने काव्य में जीवन के प्रति दृष्टिकोण और मनोजगत को अदभुत तरीके से सामने रखा है Iइनकी कविताओं में 'समाजिक चेतना'का जीवन्त प्रवाह दिखाई पड़ता हैIसमाजिक चेतना समाज सापेक्ष लोकोन्मुख जीवन दृष्टि है I समाजिक चेतना के द्वारा मनुष्य जीवन एवं समाज के भूतकाल,वर्तमान और भविष्यकाल के पतन और विकास की सभी आवस्थाओं और सम्भावनाओं का ज्ञान होता हैI समाजिक चेतना किसी जाति,देश और विश्व के अस्तित्व का मूल आधार है,जिसका मुख्य उदेश्य लोक कल्याण हैIबेदी जी ने अपना साहित्यिक करियर अस्सी के दशक में शुरू कियाIइनका जीवन प्रसिद्ध विचारकों तथा क्रांतिकारी लेखकों से प्रभावित था,जिसका प्रभाव इनके काव्य में देखा जा सकता है I बेदी जी की कविताओं में अस्सी के दशक की समस्याओं से लेकर इक्कीसवी सदी के करोना काल में समाज की समस्याओं को दर्शाया गया है I साथ ही साथ मनुष्य के मन में चल रहे विचारों को चित्रित करने का प्रयास किया गया हैI

विषय वस्तु:डॉ हरम्हेंदर सिंह बेदी जी के काव्य में समाजिक और मनोजगत चेतना को देखा जा सकता है I कवि ने समाज के बाहरी समस्याओं के साथ मनुष्य के भीतर चल रहे विचारों की गति को भी शब्दों में पिरो कर कविता में स्थान दियाI 'चेतना' मनुष्य को जीवित होने का एहसास करवाती हैIचेतना की शक्ति को विचारशक्ति कहा जाता है I चेतना के कारण मनुष्य को जीवित समझा जाता है,चेतनाहीन मनुष्य मृत के समान है I दूसरे शब्दों में कहें तो चेतना जीवित जीवों में रहने वाला वो तत्व है जो उनको निर्जीव पदार्थों से अलग बनाती हैI

''मनोविज्ञान की दृष्टि से चेतना मानव में उपस्थित वह तत्व है जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं I चेतना के कारण ही हम देखते,सुनते ,समझते और अनेक विषयों पर चिंतन करते हैं I इसी के कारण हमे सुख दुःख की अनुभूति होती है I और हम इसी के कारण अनेक प्रकार के निश्चय करते हैं तथा अनेक प्रदार्थों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं I चेतना एक बौद्धिक शक्ति है जो उस समय महत्वपूर्ण एवं ललित निर्णय लेने में मनुष्य की सहायता करती है जब वो पूरी तरह से मन के अधीन होकर गलत और सही में विभेद करने में असहज अनुभव करने लगता है I''[2]समाजिक चेतना निरन्तर गतिमान रहती है I समाज में जो परिस्थिति आज है, कल को अलग समस्या के रूप में सामने आ सकती हैI इसलिए समाजिक चेतना का स्थिर रहना असम्भव हैI बेदी जी ने अस्सी के दशक के लेखक हैं,लेकिन इक्कीसवी सदी तक आते-आते उनकी समाजिक चेतना में परिवर्तन होते रहे I बदलते समय के साथ कवि की समाजिक और आंतरिक विचारधारा को केन्द्रित करके विशलेषित करने का प्रयास किया जाता हैI अंतर्मन का विश्लेष्ण कवि के भीतरी विश्व,उनके विचारों ,भावनाओं और अनुभवों का अध्ययन किया जाता हैI कवि अपने जीवन के अनुभवों और घटनाओं को कविता में प्रतिबिम्बित करता हैIडॉ हरम्हेंदर सिंह बेदी जी उस नदी की तरह हैं,जो नदी स्वयं भीग कर ,धरती,पेड़-पोधों और तटों को भीगों सकने का कार्य कर सकती हैI और जिस प्रकार कुम्हार के हाथों से बने घड़े पर उसके हाथों की छाप को मिटाया नहीं जा सकता ,उसी तरह कवि का आत्मपक्ष किसी न किसी रूप में कविता में झलकता ही है I 'मौन का उपवास'कविता में बेदी जी द्वारा मनुष्य की मनोदशा को समझने का प्रयास किया हैI

''कौन कहाँ अकेला \किसको पताI
\भटकन का उपहार \मौन का उपवास
किसे मिला\किसको पता \साधना का उपदेश
कब कहाँ मिला \वह ही जानता I ''[3]

इन पंक्तियों में मनुष्य की मनोदशा या आंतरिक दशा को समझने का प्रयास किया गया है I कि मनुष्य के भीतर लगातार विचारों का प्रवाह चलता है ,उन विचारों का मंथन करने से नया विचार या दृष्टि सामने आती है I जिसको आध्यात्मिकता या बुद्धि से जोड़ सकते हैं Iकोई नहीं जानता ये विचार कब ,कहाँ किस रूप में प्रकट हो कर हमारा मार्गदर्शन करेंI इसी प्रकार मुक्तिबोध की कविताओं में देखा जाए तो वहाँ भी मनुष्य आत्मसाक्षात्कार करता दिखाई पड़ता हैI लगातार खुद को खोजने का प्रयास करता है I 'अँधेरे में' कविता इसका उदाहरण है I

'' खोजता हूँ पठार ..पहाड़..समुन्द्र
जहाँ मिल सके मुझे/ मेरी खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार/आत्म-संभवा I''[4]

मुक्तिबोध की कविता में भी बेदी जी कविताओं के समान विचारों की उथल पुथल में आत्मसाक्षात्कार करने का प्रयास निरन्तर चलता रहता है Iहर समय व्यक्ति अपने अस्तित्व की खोज में भटक रहा है I जिस भटकन के कारण लगातार विचार चल रहें हैं Iआत्मसाक्षात्कार होने पर

जो बेदी जी ने महसूस किया उसको अपनी कविता 'वे रंग'में इस तरह से व्यक्त किया है –

''इनके पास कहाँ
वे रंग /रंगहीन तमाशे के सब मदारी
रंगों का जादू पास तेरे /फिर तू क्यों उदास
सात नहीं सात हजार रंगों की दुनिया/तेरे आस पास ''[5]

इन पंक्तियों को बाहरी और आंतरिक जगत दोनों तरह से समझा जा सकता है I अंतर्जगत से देखा जाए तो माया के बंधन से दर होकर जिसने आत्मसाक्षात्कार किया है,उसके लिए दुनिया के रंगों से ज्यादा आंतरिक जगत के रंग हैं I दूसरी और बाहरी जगत की बात की जाए तो जीवन से हारे हुए व्यक्ति का उत्साहवर्धन करते हुए उसकी क्षमताओं का एहसास करवाने का प्रयास किया गया है I कि किस प्रकार उसमे अथाह सम्भावनाए हैं ,किसी एक जगह से असफलता मिलने पर जीवन के अन्य रास्तों की तरफ अग्रसर होना चाहिए Iअपनी एक अन्य कविता 'अंतर्वीणा का प्रहार'में भी अंतर्जगत की बात की है –''खण्ड –खण्ड सत्य टूटा /बूंद बूंद हुआ लहराता समुद्र .....विराट प्रतिष्ठा अविरल क्षण की /ध्वनि –सुगन्धित अंतर्वीणा कीI''इसी तरह से अंतर जगत का दृश्य या अंतर्जगत में उठने वाले संगीत की मधुर ध्वनि को 'आसध्य वीणा'कविता के माध्यम से सामने रखा है I बेदी जी ने अपनी कविताओं में समाज के उस कडवे सच को भी दर्शाया है ,जहाँ भौतिकवाद के दौर में रिश्तों का कोई मोल नहीं रहा I अपनी कविता 'उदास है बुजुर्ग'में अकेले रहने वाले बूढ़े लोगों की जिन्दगी को दर्शाया है I वे लिखते हैं –

''दिल्ली में /बूढ़े उदास हैं
अकेले हैं /भयभीत हैं /चुप हैं
पार्क में भी खामोशी/प्रतीक्षा से रहित
संत्रास भोगते हुए /खुद में समाए/बैठे हैं चिंता में I''[6]

बेदी जी ने बुजुर्गों की मानसिक /दयनीय स्थिति को समाज के सामने कविता के माध्यम से रखा है I कामकाजी जीवन की व्यस्तता के कारण युवा वर्ग काम में उलझा रहता है ,और अपने बूढ़े माँ-बाप को समय नहीं दे पाते I जिसके कारण बुजुर्ग अपनी मानसिक पीड़ा को अकेले झेलते हैं Iकवि ने भौतिक बस्तुओं की भाग-दौड़ में व्यस्त मनुष्य की स्थिति को समझाते हुए कहा हैI कि किस प्रकार व्यक्ति रोटी के लिए इतनी मेहनत करता है ,लेकिन भौतिक युग में इस तरह फंस चूका है कि उसको कहीं शांति नहीं है I बहुत बेचैन हो चूका है व्यक्ति न तो उसके पास मन की शांति रही है और न ही तन की I 'मिटटी और आदमी'कविता में लिखते हैं

'' मिटटी से गेहूं /गेहूं से आटा /आटे से भूख /भूख से आदमी /
और भूखा है आदमी /मिटटी से लोहा /लोहे से स्टील /
स्टील से कारखाना /कारखाने से बेकारी /
और बेकार है आदमी /मिटटी से तन /
तन के भीतर मन /मन से तन /
तन से मन नहीं जुड़ता /बहुत बेचैन है आदमी I ''[7]

'प्राणी का सत्य' कविता में कवि ने मनुष्य की करोना काल की स्थिति को अपनी कविता में उस समय के दर्द और व्यक्ति की मानसिक स्थिति को दर्शाया है I

''कहीं मत जाओ /देश जागा है या सोया
सभी डरे हुए /कुछ नहीं करते I बात भी नहीं /हंसते भी नहीं ''[8]

लोकडाउन में मन्युष्य ने बहुत से कष्टों को सहा है,बहुत लोगों ने अपनों को खोया ,किसी ने रोजगार खोया तो किसी ने जिन्दगी खोई I लेकिन इन सब के बाद भी कवि ने जीने की एक बजह भी कविता में व्यक्त की है ,कि बहुत कुछ खोने के साथ हमने बहुत कुछ पाया भी है I परिवार के साथ समय ,रिश्तों की पहचान,अपनों का प्यार और साथ ही खुद को जानने का समय I कवि लिखता है ,कि –

''उसे अब पता चला /साठ साल बाद
प्रत्येक कमीज के अंदर/होता है एक अतिरिक्त बटन ''[9]

बेदी जी समाज की हर गतिविधि को देखते और समझते हैं I वे जान रहे हैं कि किस प्रकार से मुखोटे पहन कर आम आदमी को गुमराह किया जा रहा है I उनकी मजबूरियों को आधार बना कर किस प्रकार की राजनीति की जा रही है I राजनीति पर कटाक्ष करते हुए बेदी जी लिखते हैं –

''मौसम का जायजा लेकर /आपको पुराना छाता देंगे/
वे बारिश का इंतज़ार करेगें /नहीं होंगी बारिश /
तो सूखे पर भी उनकी नजर हैं I'' [10]

धूमिल की कविताओं में भी राजनिति पर गहरा प्रहार मिलता है I अपनी कविता 'संसद से सडक तक'में लिखते हैं –''एक आदमी/ रोटी बेलता है/एक आदमी रोटी खाता है /एक तीसरा आदमी भी है /जो न रोटी बेलता है ,न रोटी खाता है /वह सिर्फ रोटी से खेलता है I''
बेदी जी ने जहाँ समाज की विसंगतियों को सामने रखा है ,वहीं दूसरी और समाज में आशा की रोशनी को भी अपनी कविताओं के माध्यम से बिखेरा है I जीवन से हतास व्यक्ति को जीवन जीने का उत्साह पैदा किया है I 'पर्वत शिखर'कविता में वे लिखते हैं –

''देखकर /पहाड़ का शिखर /सोच लिया था
कहाँ तक जाऊँगा रास्ते में
होगा कहाँ विश्राम /लोटने को मन बना .....
देह की आत्मा बनी पर्वत
अब छू ही लूँगा/पूरे पहाड़ को आज नहीं तो कलI ''[11]

जिन्दगी में कठिनाई आने पर अपने विश्वास को दृढ बनाए रखना I बेदी जी की कविताओं से सीखा जा सकता है I साथ ही बेदी जी ने एक उच्च व्यक्ति की तुलना समुद्र से की है I अपनी कविता में समझाने का प्रयत्न किया है,कि उच्च व्यक्ति के गुण शांत समुद्र के समान है I जिस प्रकार समुद्र अपने भीतर अथाह जल ,जीव ,हीरे –मोती आदि को रख कर भी शांत रहता है ,ठीक उसी प्रकार जिस व्यक्ति के पास जितना अधिक ज्ञान है वह उतना ही विनम्र रहता है –

''जब मैंने देखा /समुद्र अकेला ही था
जल से परिपूर्ण उफनता हुआ/
कोई नदी नहीं थी वहाँ /जल –दान कर लौट गयी होगी /
अब सुखी होगी नदी/ प्यासी होगी नदी /समुद्र शांत है I ''[12]

बेदी जी अपने काव्य में उत्साह और धैर्य के लिए भी प्रेरित करते हैं I अपनी कविताओं के माध्यम से आशा की किरण लोक कल्याण के लिए बिखेर रहे हैं I उनका काव्य संग्रह 'धुध में डूबा शहर'की एक कविता 'सतरंगा मौसम'में कवि ने दःख में हार न मानने को कहा ,और साथ ही अँधेरे के बाद आने वाले उजाले का इन्तजार करने को कहा I जिस प्रकार पतझड़ के बाद फिर से नए फूल खिलते हैं I कवि लिखते हैं ''धैर्य रखो /बीते दिन फिर लौटेंगे /घबराने की बात नहीं /पीले पते झर जायेगें I''[13] अपनी कविताओं में बेदी जी ने उस मेहनती मजदूर औरत को भी जगह दी है ,जो लगातार मेहनत कर रही है I लेकिन उसको कभी उसकी मेहनत के लिए सराहा नहीं जाता ,अपने परिवार और अपने पेट भरने के लिए अपनी युवा अवस्था को कुर्वान कर देती है I लेकिन उसकी मेहनत को कभी समझा नहीं जाता I और साथ ही गरीब की मजबूरी को भी दर्शाया है कि किस प्रकार मजबूरी में अपने दूध मुहे बच्चे को भरी धूप में पीठ पर बाँध कर एक माँ मजदूरी कर

रही है I बेदी जी 'वह तोड़ती पथर'कविता में लिखते हैं –

"हर शहर में /मैने देखा /उसे तोडती पथर ....
किसी निगम के सरकारी अक्षर /लेकिन उसका नाम नही है I "[14]

इसी प्रकार की पंक्तियाँ हम निराला जी की कविता 'तोड़ती पत्थर'में देख सकते हैं I निराला जी भी जनता के पक्षधर हैं ,उन्होंने भी लोक कल्याण के लिए कविताओं का सृजन किया I बेदी जी का काव्य किसी एक विचार को लेकर नही रचा गया है ,अपितु इसमें लोक के हर पक्ष को रखा गया है I साथ ही साथ अंतर्जगत को भी आधार बनाया गया है I

निष्कर्ष :डॉ.हरमहेंद्र सिंह बेदी जी बहुआयामी प्रतिभा के धनी रचनाकार हैं I उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं का सर्जन किया है ,इन्होने हिंदी और पंजाबी में रचनायें की हैं I उन्होनें कविताओं को लिखा ही नहीं अपितु जिया भी है,इसलिए इन्हें समकालीन कविता के हस्ताक्षर माना गया है I बेदी जी लोक –जीवन और आंतरिक जगत के पारखी हैं,जो की इनकी कविताओं में दिखाई पड़ता है I इनकी प्रत्येक कविता अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है I कहीं इनकी रचनाओं में मनुष्य का बाहरी संघर्ष दिखाई देता है, तो कहीं अपने अस्तित्व के खोज का संघर्ष है I जीवन में एक विचार भी क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकता है I बेदी जी की कविताओं का स्पर्श पाते ही पाठक का हृदय उदात भावनाओं के प्रकाश से भर जाता हैI इनकी कविताओं को पढ़ कर पाठक की चेतना को झकझोर कर बहुत से प्रश्नों को सामने उठाती हैं I और इन्ही कविताओं के माध्यम से उन समस्याओं का समाधान भी मिलता है I बेदी जी की कविताओं को पढ़ के उज्ज्वल भविष्य की कामना की जा सकती है I इनकी कविताओं को पढने से जीवन रहस्य को समझने का द्वार खुलता है I

****

संदर्भ :

1. चिंतामणि भाग -1 :आचार्य राम चन्द्र शुक्ल,पृष्ठ स.107 ,प्रकाशन संस्थान नयी दिल्ली ,संस्करण 2023.
2. विकिपीडिया ,एक मुक्त ज्ञान कोष से I
3.मौन में व्रत:डॉ.हरमहेंद्र सिंह बेदी,पृष्ठस.12,समृद्ध पब्लिकेशन शाहदरा,दिल्ली, संस्करण 2023 .
4.कविता के नए प्रतिमान:नामवर सिंह,पृष्ठ स.221,राजकमल प्रकाशन,संस्करण 1968.
5. मौन में व्रत:डॉ.हरमहेंद्र सिंह बेदी,पृष्ठस.13,समृद्ध पब्लिकेशन शाहदरा,दिल्ली, संस्करण 2023 .
6.पानी का सपना:डॉ.हरमहेंद्र सिंह बेदी ,पृष्ठ स.63 , समृद्ध पब्लिकेशन शाहदरा,दिल्ली ,संस्करण 2023 .
7. हरमहेंद्र सिंह बेदी रचनावली(खण्ड -2):प्रोफेसर रामसजन पाण्डेय,पृष्ठ स.37,निर्मल पब्लिकेशन,संस्करण 2019
8.लहर लहर कविता :डॉ.हरमहेंद्र सिंह बेदी ,पृष्ठ स.20,प्रकाशन इंडिया नेटबुक्स,संस्करण 2020.
9.अनुबंध के भोजपत्र :डॉ.हरमहेंद्र सिंह बेदी ,पृष्ठ स.47 ,बोधि प्रकाशन ,संस्करण 2021.
10. अनुबंध के भोजपत्र :डॉ.हरमहेंद्र सिंह बेदी ,पृष्ठ स.55 ,बोधि प्रकाशन ,संस्करण 2021.
11.मौनमेंव्रत:डॉ.हरमहेंद्र सिंह बेदी,पृष्ठस.38,समृद्ध पब्लिकेशन शाहदरा,दिल्ली, संस्करण 2023 .
12.मौनमेंव्रत:डॉ.हरमहेंद्रसिंहबेदी,पृष्ठस.37,समृद्ध पब्लिकेशन शाहदरा,दिल्ली संस्करण 2023 .
13. हरमहेंद्र सिंह बेदी रचनावली(खण्ड -2):प्रोफेसर रामसजन पाण्डेय,पृष्ठ स.102 . ,निर्मल पब्लिकेशन,संस्करण 2019
14 .हरमहेंद्र सिंह बेदी रचनावली(खण्ड -2):प्रोफेसर रामसजन पाण्डेय,पृष्ठ स.106 ,निर्मल पब्लिकेशन,संस्करण 2019.

दौसा जिले के प्रमुख संत और उनका साहित्य

डॉ. शीतल प्रसाद महेन्द्रा
सह आचार्य
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय
बाँदरसिंदरी (किशनगढ़) अजमेर

दौसा, कहते हैं यह नाम संस्कृत शब्द "धौ-सा" अर्थात "स्वर्ग जैसा सुंदर" पर रखा गया है। इस बेहद प्राचीन शहर को "देव नगरी" के नाम से भी जाना जाता है। दौसा जयपुर से पूर्व की ओर लगभग 55 किमी दूर नेशनल हाईवे-21 पर स्थित है। दौसा को 7 वीं शताब्दी राजा सोडदेव ने बसाया था उसके बाद इस परंपरा को दूलेराय ने आगे बढाया । यह शहर कछवाहा राजवंश का पहला मुख्यालय था इसके पश्चात दूलेराय ने आमेर पर आक्रमण कर उसे अपनी राजधानी बनाया । इस शहर से इतिहास और पुरातात्विक महत्व बहुत सारा जुड़ा हुआ है। कई पुराने महलों की खूबसूरती समेटे दौसा पर्यटकों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र है । दौसा शहर की चारों दिशाओं एवं एक पहाड़ पर कुल पांच शिवालय है–नीलकंठ महादेव (पहाड़ पर), सोमनाथ महादेव, वैजनाथ महादेव, सहजनाथ महादेव, गुप्तेश्वर महादेव । क्षेत्रफल की दृष्टि से दौसा जिला राजस्थान के छोटे जिलों में से एक है। जिले का आकार मोटे तौर पर अर्ध-गोलाकार या सी-आकार का हैं, जो केंद्र में चौड़ा है और पूर्व और पश्चिम की ओर पतला है। भौतिक रूप से भूभाग का अधिकांश भाग उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक चलने वाली अरावली पहाड़ियों की कई श्रेणियों के साथ समतल है। जिले की पहाड़ियाँ उत्तरी अरावली पर्वतमाला के भाग या शाखाएँ हैं। यह आरावली ही यहाँ संतों के आकर्षण का कारण है इसकी हर कन्दरा में कोई न कोई साधु साधना मे लीन है।

दौसा ना सिर्फ अपने राजाओं, संतों बल्कि स्वतंत्रता सेनानियों के लिए भी जाना जाता है। स्वर्गीय टीकाराम पालीवाल और स्वर्गीय राम करण जोशी उन स्वतंत्रता सेनानियों में शामिल हैं, जिन्होंने आजादी की लड़ाई से लेकर राजस्थान राज्य के गठन के लिए रियासतों के एकीकरण में अपना बहुमूल्य योगदान दिया था. स्वतंत्रता के बाद साल 1952 में स्वर्गीय टीकाराम पालीवाल राजस्थान के पहले निर्वाचित मुख्यमंत्री और स्वर्गीय राम करण जोशी प्रदेश के पहले पंचायती राज मंत्री थे।

दौसा जिले से संबंधित प्रमुख संत और उनका साहित्य

जगजीवन दास महाराज- संत श्री जगजीवन दास महाराज का जन्म उत्तर प्रदेश में 1612 ई. के लगभग माना जाता हैं. इनका जन्म सरहदा गांव जो बाराबंकी के जिले में सरयू नदीं के किनारे कोटवा से दो कोस की दूरी पर हुआ था। जानकारी के अनुसार इनका जन्म चन्देल क्षत्रिय परिवार में हुआ था, संत जगजीवन दास बचपन से ही गंभीर स्वभाव के थे। संत समागम और कीर्तन-कार्यक्रम में वे बड़े उत्साह से हिस्सा लेते थे। जगजीवन दास जी महाराज संवत 1640 में दौसा आए थे. वहीं संवत 1647 में संत श्री दादू दयाल महाराज दौसा में आए थे. जगजीवन दास महाराज ने संत श्री दादू दयाल महाराज को गुरू बनाया और बैराठ आमेर में दीक्षा प्राप्त की। दादू दयल के 152 शिष्य थे जिनमें 100 गृहस्थ थे और 52 साधु थे. जो दादू पंथ के 52 स्तम्भ कहलाए. इनके प्रमुख शिष्य जगजीवन दास महाराज माने जाते हैं।

मंहत केशव देव स्वामी के अनुसार संत श्री जगजीवन दास महाराज दौसा में 40 वर्ष तपस्या की और उसके बाद में संवत् 1694

समाधि ली थी. इसलिए दौसा के टहलड़ी में संत श्री जगजीवन दास जी महाराज की तपोस्थली व समाधि दोनों ही है. तपोस्थली का निर्माण जयपुर के महाराजा मानसिंह प्रथम के समकालीन किया गया। श्री जगजीवन को अपने ब्रह्मलीन होने का समय पहले ही ज्ञात हो गया था। उन्होंने अपने साधक शिष्यों को कहा कि उनके शरीर को गुरु दादू के चरण पादुकाओं के पास भैराणे की पहाड़ी की जड़ में रख देना। आज भी दौसा टहलडी दादू पंथ के संतों की तप स्थली माना जाता है. गुरु पूर्णिमा के दिन यहां पर दादू पंथ के शिष्य आते हैं और अपने गुरु जी को सादर नमन करते हैं।

संत सुन्दरदासजी -राजस्थानी सन्त एवं भक्ति काव्य परम्परा में राजस्थान के दौसा क्षेत्र में वि.सं. 1653 को जन्में खण्डेलवाल महाजन कुल के सुन्दरदास का विशिष्ट महत्त्व है। ये सन्त काव्य परम्परा को विकसित करने वालों में अपनी विशेष पहचान रखते हैं। सन्त दादूदयाल जी ने इन्हें अपना चैला बना लिया था। इन्होंने दौसा से बाद में काशी तक का भ्रमण किया और अन्त में जयपुर के निकट सांगानेर में वि.सं. 1746 में इनका देहावसान हुआ। सुन्दरदासजी की रचनाओं का संग्रह सुन्दर ग्रन्थावली के नाम से जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान श्री हरिनारायण पुरोहित के द्वारा किया गया। इनके ग्रंथों की संख्या 42 है। इनकी महानता के विषय में प्रसिद्ध पद है-

दादू दीनदयाल के, चेले दोर पचास।
कोई उडुगण कई इन्दु हैं, दिनकर सुन्दरदास।।

सन्तकाव्य परम्परा के अनुकूल ही इन्होंने गुरु महिमा व गुरु की सत्ता को सर्वोपरि माना है। निर्गुणी कवि होते हुए भी काव्य सहज व सरल, जनभाषी काव्य कला पर आधारित है। गुरु का महत्त्व प्रकट करते हुए इन्होंनें लिखा है-

गुरु-बिन ज्ञान नहीं, गुरु बिन ध्यान नहीं,
गुरु-बिन आतमविचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहीं, गुरु बिन नेम नहिं,
गुरु बिन सीलहू, सन्तोष न गहतु है।
गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकाश नहिं,
भ्रमहू को नास नहिं, ससेइ रहतु है।
गुरु बिन बाट नहिं, कौड़ी बिन हाट नहिं
सुन्दर प्रकट लोक, वेद यो कहतु है।

सन्तकाव्य परम्परा को विकसित करने वाले राजस्थानी सन्तों में शिरोमणि-सुन्दरदास ने गुरु महिमा के अतिरिक्त-ज्ञानोपदेश, काल की विकरालता देह व जगत की नसवरता, आसक्ति-तृष्णा, गुरु विश्वास, देह की पवित्रता, वाणी का महत्त्व तथा भजनों का महत्त्व प्रकट करने वाले पदों की रचना की। इनके इन भावों की अभिव्यक्ति से सन्त साहित्य को प्रबलता मिली।

संत श्री दुर्बलनाथ महाराज-सामदा गद्दी के श्री गरीब नाथ जी के शिष्य संत श्री दुर्बल नाथ जी हुए हैं। सन् 1861 में जलझूलनी एकादसी को नाथ कवि सन्त श्री दुर्बलनाथ का जन्म बिचगांव (अलवर) में हुआ। आपके पिता का नाम श्री फत्तूराम मल्होत्रा एवं माता का नाम श्रीमती रूपा देवी है। इन्होने लगभग बारह वर्ष जमुवारामगढ़, गोपालगढ़, कलजपुरी एवं थली आदि स्थानों पर तपस्या कर बांदीकुई जिला दौसा में समाधी ली।

इनके साहित्य में लोक-जीवन की सूक्ष्म संवेदनाओं, जटिलताओं और विसंगतियों को समूचे सन्दर्भ के साथ सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। इन्होने जहाँ, लोक जीवन से जुड़े हेली, बन्दड़ा, चुन्दरिया, मंगला आदि से अपने साहित्य को समृद्ध किया है, जो कि संगीतात्मकता में विशिष्ट है। वहीं चेतावनी व सबदों के माध्यम से आम जन को चेताने का प्रयास किया है-

ले ले रे भलाई एक दिन चलना है जरुर।
तू कहता है मेरा मेरा यहाँ नहीं है कोई तेरा।
भाई बन्धू और कुटुम्ब कबिला, सब हो जावेंगे दूर।।
तू जानत है काया मेरी, यह काया तेरी ना मेरी।
या कारण काया मल-मल धोई अन्त धूर की धूर।।

सन्त श्री दुर्बलनाथ ने गुरु की महिमा के बखान, बह्याडम्बर के विरोध तथा साधकों के लिए अच्छे आचरण की आवश्यकता पर बल दिया। सामाजिक सजगता के कारण हिन्दु-मुस्लिम समुदायों में साम्प्रदायिक सौहार्द बढ़ाने का प्रयास भी किया-

आत्म पति सब ही के कहिये, हिन्दु मुसलमान जी।
आत्म की खबर नहीं है, जोड़ जोड़ कथ गाता जी।।

यही वजह है कि इनके साहित्य में दरगाह, महजत किला आदि का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। मेवात क्षेत्र जो कि इनकी जन्मस्थली एवं कर्मस्थली रहा, इन पर मुस्लिम सम्प्रदाय का खासा प्रभाव है। अत: इन्होने हिन्दु मुस्लिम समन्वय का भी भरपूर प्रयास किया है।

गुरु चेला संवाद के माध्यम से सरल भाषा में आम आदमी को मोक्ष प्राप्ति का सहज रास्ता बतलाया गया है। इनके साहित्य में साधक एवं गृहस्थ सबको अपनी-अपनी भाषा में अपने-अपने तरीकों से समझाने के लिए सबदों के विभिन्न रूप मिलते हैं, जैसे गणपति वन्दना, गुरु महिमा, चेतावनी, वाणी, हँसा, हेली, दरगाह, महजत, बन्दड़ा, मंगला, कलाली, चुन्दरिया आदि।

संत श्री दुर्बलनाथ जी की विद्यालयी शिक्षा नहीं हुयी थी। वे लोक से जुड़े हुये थे, इनके भजनों में त्योहारों का, रहनसहन का, पहनावे का चित्रण एवं आम शब्दों का प्रयोग बहुतयात में मिलता है। प्रचलित प्रथाओं, व्यवस्थाओं एवं सामाजिक दायित्वों के प्रति अपनी सजगता उनके सामाजिक पारखीपन को प्रस्तुत करता है। सन्त दुर्बलनाथ की लोक दृष्टि बहुत व्यापक और उदार है। किसी भी भेद-भावना को वहाँ स्थान नहीं है। हिन्दु - मुस्लिम, ब्राह्मण और सभी वर्ग वहाँ समान हैं। लोक जीवन की धूप-छाव में विचरण करने वाले संत श्री दुर्बलनाथ ने दुनियाँ के लोकाचारों की चर्चा की है। सामाजिक चिन्तन द्वारा जाति व्यवस्था असमानता छुआछुत, धर्म, जातिवाद पर प्रखर चोट की है। सामाजिक रूढ़ियों, विश्वास व परम्परा पर उनके विचार तथा वाणियों में साहित्य में दलित, मजदूर वर्ग पर भी विचार किया है। वे कर्म करने की प्रेरणा देते हैं-

संत भला गुरु नाम रटे, विप्र भला तिहुं वेद पड़े।
राज भला प्रजा सुख पावत, शूर भला रण खेत लड़े।।
वैश्य भला सत व्यापार करे, तोल भला सांचे धड़े।
'दुर्बल' भला निज हो मन, पानी भला अपने ही घड़े।।

सामाजिक चिन्तन में उन्होंने नारी की शक्ति का महत्त्व भी स्थापित किया है। इसमें स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उनका लोक जीवन से सीधा सार्थक जुड़ाव था। सिद्ध नाथों के समान आपने जन्म आधारित जाति व्यवस्था को समाज के विकास में सबसे बड़ी बाधा माना है। उन्होंने कर्माधारित जाति व्यवस्था की वकालत की है तथा ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्र सभी को उनकी जिम्मेदारी का भान कराया है। इन्होने समानता का शंखनाद करते हुए सभी को **'सांई का जीव'** घोषित किया है। मानवीय अस्तित्व की मूल चेतना में ही विद्रोह के स्फुल्लिंग होते हैं। समाज में निरन्तर बढ़ते भेदभाव, धार्मिक संकीर्णता, सामाजिक असमानता, भौतिकवादी प्रवृत्ति तथा कृत्रिम आरोपित मूल्यों के नीचे कसमसाते विशुद्ध मानव की खोज ही संत की प्रेरणा बनी।

संत श्री दुर्बलनाथ जी रचित ''अनुभव आतम प्रकाश'' साधु समाज की ही नहीं वरन् हिन्दी निर्गुण साहित्य की भी अमूल्य निधि है। उनके विचारों को स्पष्ट करती यह वाणी-

गुरूजी मैंने अवगुण बहुत करे, मेरे अवगुण माफ करो॥
पाप की पोट धरी सिर ऊपर, पाप के पहाड़ परे।
जितने पांव धरे धरती पर, उतने ही जीव मरे॥
झूंठी बात बसे घट भीतर, पर निन्दा ध्यान धरे।
पर तिरिया पर नीयत चलाई, पर धन बहुत हरे॥
दया धर्म नहीं घट के भीतर, जीव पै घात करे।
शील चुन्दरिया ओढ़ी सिरपे, दया की धीर धरे॥
मोह-मनी के शीश उतारे, धीरज धीर धरे।
इत उत के चित छोड़ दे मनवा, गरीबी ज्ञान करे॥
अशुभ कर्म भरम को मारो, आधीनी बास करे।
अपने सायब से प्रीत लगाओ, समता से सत्य करे॥
नाम बाण जब दिया गुरू ने, पापों के नाश करे।
इस तद के चित छोड सें मनवा, गरीबी ज्ञान केरे॥
अक्रम कर्म भरम को भरो, आधीनी बास करे।
अपने सायब से प्रीत लगावो, समता से सत्य करो॥
नाम बाण जब दिया गुरू ने, पाप अक्रम नाश करे।
''दुर्बलनाथ'' शरण सतगुरू की, सत ही पार करे॥

आपने अपने गुरु जी के पास आपने पूर्ण मनोयोग से शिक्षा ग्रहण की जब श्री गरीबनाथ जी को लगा कि 'दुर्बलनाथ' योग विद्या में पूर्ण हो गया, तो उन्होंने आपको अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा, इस पर आपने विनम्रतापूर्वक उनके प्रस्ताव के बजाय सब जगह घूम-घूम कर समाज को एक दिशा देने का अपना अनुरोधात्मक विचार अपने गुरु जी के समक्ष रखा। इस पर आपके गुरु जी ने आपकी इच्छा का मान रखते हुये यही करने के लिए आशीर्वाद दिया। इसके उपरान्त आप जगह-जगह सत्संग करते हुए लोक जन को सदोपदेश के सहारे सही मार्ग पर लाते रहे। परम् तत्त्व की गूढ़ रहस्यावलियों को सरलता से सबको समझाते हुये आम जन का मार्ग प्रशस्त किया। इस दौरान आपने लगभग बारह वर्ष तक जमुआ रामगढ़, कलजपुरी में एकान्त साधना की। अपनी साधना व तप के बल पर ही आपने अपने जीवन में अनेक चमत्कारिक कार्य किये जिनमें जीवनदान, भगवत् दर्शन आदि मुख्य हैं। अपने यौगिक जीवन में आपने लगभग 1396 शब्दों व् वाणियों की रचना की जो कि विभिन्न स्थानों पर सम्पूर्ण उत्तर भारत में उपलब्ध हुई है। अपने अन्तिम समय में आपने बाँदीकुई (दौसा) में अपना आश्रम बनाया। यहीं आश्रम पर 6 माह पूर्व देह त्याग की घोषणा कर दी थी उसी के अनुसार संवत 1986 तदर्थ सन 1929 को प्राणायाम के अभ्यास से समाधिस्थ होकर ब्रह्मलीन हो गए।

आप इस संसार मे 68 वर्ष रहे जिसमें 39 वर्ष वैराग्य जीवन में मानव मात्र को मोक्ष का मार्ग दर्शाते हुए उपदेश देते रहे। आपकी शिष्य परम्परा अग्रानुसार है-

1. श्री शीतल नाथ
2. श्री राधाबाई
3. श्री आधीननाथ
4. श्री बिच्छुनाथ
5. श्री दया नाथ (रामसुखा भाट)

श्री शीतल नाथ महाराज:-बागोरिया परिवार बांदीकुई (दौसा) राजस्थान के रहने वाले थे। आप अपना गृहस्थ आश्रम का परित्याग कर महाराज के साथ रहकर महाराज की सेवा करते थे एवं प्रिय गायों को चराते थे। महाराज श्री दुर्बलनाथजी ने ही अपने कर कमलों से ही जमुवा रामगढ़ बन्ध घाटी (गोपालगढ़) में महाराज शीतलनाथजी को समाधि दी।

श्री राधाबाई:- राधाबाई ग्राम खवा, तहसील- जमवारामगढ़, (जयपुर) की पहाडिया परिवार से थी एवं थली के पास कलजपुरी (जमवारामगढ़) (जयपुर) में नावरिया परिवार में शादी हुई थी। बचपन में ही विधवा होने के कारण महाराज दुर्बलनाथजी की शरण में आकर अपने आपको सत पुरूष की खोज में अर्पण कर दिया। महाराज के साथ रहकर अपने गुरू की सेवा करती एवं यौगिक रीति के मतानुसार तपस्या करती थी। राधाबाई ने भी अपने आत्मबल तपस्या एवं अनुभव के आधार पर वाणियों की रचना की। राधा बाई अन्त समय तक गुरू महाराज की सेवा करती हुई परमधाम सिधार गई। गुरू महाराज ने ही अपने कर कमलों से राधाबाई को कलजपुरी (थली) के पास डगोता खान के बीहड़ जंगलों में अपनी कुटि के पास समाधि दी।

श्री आधीननाथ:- महाराज जी आधीननाथ से मथुरा निवासी थे। माता पिता ने महाराज आधीननाथ जी को 10 वर्ष की अल्प आयु में ही श्री दुर्बलनाथ के चरणों में समर्पण कर दिया था। इस तरह महाराज आधीन नाथजी ने अपनी पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके गुरू के बताये हुए पद चिन्हों पर चलते हुए अपना यौगिक जीवन परिपूर्ण किया। जब श्री दुर्बलनाथ ने देखा कि आधोन नाथ जी अपने आप में परिपूर्ण हो गया है तो उनको ग्राम थली (जमुवारामगढ़)जयपुर के आश्रम की देख रेख का कार्य भार दिया। वहां पर आज भी गुरूद्वारा मंदिर है। महाराज आधीननाथजी जीवन भर देश के कौने कौने में घूम कर गुरु जी के उपदेशों का प्रचार किया करते रहे।

श्री बिच्छु नाथ :- श्री दुर्बलनाथ जी ने बांदीकुई में समाधि लेने से पूर्व ही भक्तजनों के सम्मुख कहा था कि बांदीकुई आश्रम का संचालन मेरे समाधि लेने के पश्चात वैराग्य पंथ से महात्मा स्वंय आकर करेगा। इस भविष्यवाणी के अनुरूप ठीक कुछ माह पश्चात् वैराग्य पंथ से महाराज रामदास जी निवासी लुणावा (फालना) पाली ने स्वंय आकर गुरू महाराज की समाधि के चरण स्पर्श कर मन ही मन महाराज दुर्बलनाथजी को अपना गुरू मान कर सेवा करना प्रारम्भ कर दी। कुछ समय पश्चात महाराज के गुरूभाई गोपालनाथ जी (श्यामदा) अलवर द्वारा इनको चोला देकर बांदीकुई आश्रम के संचालन का अधिकार दिया एवं नाम श्री बिच्छूनाथ रखा। उसी समय से महाराज रामदास जी श्री बिच्छूनाथजी महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए.महाराज बिच्छूनाथजी अपने तपोबल एवं आत्म शक्ति द्वारा महाराज की उपासना करते हुए इतने परिपूर्ण एवं सिद्ध पुरूष हो गये थे कि दूर दराज से हजारों दीन दुखी अपने दु:खों के निवारण हेतु मंदिर पर पधारने लगे।

आप अपने भक्तजनों को कष्ट के समय स्वयं दर्शन देकर उनके कष्टों का निवारण करते थे। पिनांण के श्री बंशीरामजी बसवाला एवं बिगोता के चतरूराम जी बडग़ूजर इसके प्रमाण हैं। आप अपने समय के संस्कृत व ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्यान थे। सन 1954 में मन्दिर की परीधि में ही महाराज के चरणों में समाधि ग्रहण की।

महाराज बिच्छूनाथजी के पश्चात श्री दुर्बलनाथजी आश्रम बांदीकुई का संचालन महाराज गुलाब नाथ जी, महाराज रामनाथजी एवं बालकनाथ जी, महाराज पूर्णनाथजी, महाराज रेवडऩाथ जी, महाराज चेतन नाथ जी एवं देवनाथ जी महाराज ने सुचारू रूप से किया अब मंगलनाथ महाराज कर रहे है।

श्री शंकर नाथ महाराज- शंकरनाथ जी महाराज का जन्म स्थल गीजगढ़ जिला दौसा है इनके गुरूजी का नाम जोधानाथ जी था परन्तु इन्होने अपना ज्ञान गुरु श्री दुर्बलनाथ जी को माना उनके भजनों में लगी छाप से यह स्पष्ट होता है यद्यपि शंकरनाथ जी श्री दुर्बलनाथ जी के समकालीन नहीं थे। आप नाथ संप्रदाय में दीक्षा लेकर अनेक स्थानों पर तपस्या करते रहे। बहुत समय आप गोविन्दगढ़ (अलवर) में

करते रहे इसी समय आपने श्री दुर्बलनाथ जी महाराज की वाणियों के संकलन एवं परिभाषित करने का श्रम साध्य कार्य किया । उसके बाद आप ने पांच पौधा नारायणी माता में अपना स्थान बना लिया, वैशाख कृष्ण दशमी संवत 2050 को देवलोकगमन तक वहीँ तपस्या करते रहे।

श्री देवनाथ महाराज- आपके पिता का नाम श्री कल्याण मल महेंदवारिया एवं माता का नाम श्रीमती धापा देवी है आपका जन्म स्थान जयपुर है जबकि बालपन एवं बाद का समय दौसा में व्यतीत हुआ । आपके गुरु का नाम श्री बिच्छु नाथ जी महाराज है। आपने गृहस्थ आश्रम का पालन करते हुए सेवा की इसके उपरांत 19 वर्ष वैराग्य में रहकर गुरु वचन के अनुसार मानव मात्र को योग साधना से जीवन को सहज बनाने का संदेश दिया। इनके शिष्य निम्नानुसार है – 1. श्री लीला नाथ जी महाराज, 2. श्री दया नाथ जी महाराज 3. श्री मंगल नाथ जी महाराज 4. श्री जय नाथ जी महाराज 5. श्री मिट्ठन नाथ जी महाराज, 6. श्री अमर नाथ जी महाराज 7. श्री प्रेमनाथ जी महाराज ।

हिंगवा गद्दी :- दौसा से पूर्व की और सिकराय उपखंड के **हिंगवा** गांव में नाथ समाज के विभिन्न पंथों में यह सत्य नाथी पंथ की प्रमुख गद्दी है। स्थानीय लोगों के अनुसार यहां कई संत महात्मा रहे हैं जिनमें से करीब 6 महात्माओं ने जीवित समाधि ली और कई तरह के चमत्कारों पर भी लोग विश्वास करते हैं।

इस समय वहाँ रामेश्वर नाथ विराजमान हैं । ऐसा माना जाता है कि, **महाभारत के युद्ध से पहले ही पता लग गया था कि यहां युद्ध होने वाला है. तभी वहां से चलकर बाबा थलनाथ महाराज हिंगवा आए थे और यहां उन्होंने अपना एक धूना लगाकर आसन जमाया ।** ऐसा माना जाता है कि जयपुर के राजा सवाई मानसिंह करीब 1800 वर्ष पहले यहां दर्शन करने आए थे तब उन्होंने इस मंदिर का निर्माण करवाना शुरू किया था। लेकिन मंदिर निर्माण एक बार में पूरा नहीं हुआ कई बार में अलग-अलग भाग में इस मंदिर का वर्तमान स्वरूप बन सका। संत लक्ष्मण नाथ जी के अनुसार, इस गद्दी पर कई महाराज रहे हैं. यहां 58 समाधि स्थल बने हुए हैं. इनमें छह महाराजों ने जीवित रहते ही समाधि ली। इनमें सुजान नाथ महाराज ने सबसे पहले समाधि ली थी। इसकी भी किंवदंति है, कहते हैं वो यहां से समाधि लेकर जमीन के अंदर से चलकर सबसे पहले कालवान गांव जाकर निकले। लोगों से पूछा यह कौन सा गांव है? पहाड़ी पर पशु चरा रहे चरवाहों ने बताया यह कालवान गांव है। सुजाननाथ महाराज ने दोबारा वहां ज़मीन के अंदर ही समाधि ले ली और फिर हिंगवा गांव के पहाड़ के पास निकले। यहां आज भी लोग पूजा करते हैं। दौसा के चारों और अरावली पर्वत माला है । अरावली के घने जंगल संतों को तपस्या करने के लिए हमेशा आकर्षित करते है ।

*****

संदर्भ :-

1. मेनारिया डॉ. पुरुषोत्तम लाल, राजस्थानी संत साहित्य, पृ. 66
2. मेनारिया डॉ. पुरुषोत्तम लाल, राजस्थानी संत साहित्य, पृ. 48
3. श्री दुर्बलनाथ, अनुभव आतम प्रकाश, (1986) पृ. 18
4. श्री दुर्बलनाथ, अनुभव आतम प्रकाश, बांदीकुई (1986) पृ. 207
5. श्री दुर्बलनाथ, अनुभव आतम प्रकाश, बांदीकुई (1986) पृ. 321
6. श्री दुर्बलनाथ, अनुभव आतम प्रकाश, बांदीकुई (1986) पृ. 230
7. श्री दुर्बलनाथ, अनुभव आतम प्रकाश, बांदीकुई (1986) पृ. 5

आधुनिक चिंतन और आदिवासी समाज की पहचान

अभिषेक कुमार मीना
शोधार्थी, हिंदी विभाग
हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय

भूमिका -

भूमण्डलीकरण एवं उच्च तकनीकी के इस दौर में आदिवासियों पर चर्चा करना ऐसा लगता है जैसे अतिसभ्य बुदधि जीवियों के बीच पाषाणयुगीन मानव समूहों के बारे में बात की जा रही है। अतिसभ्य समाज और आदिवासियों के मध्य भौतिक, सांस्कृतिक एवं वैचारिक स्तर पर कई-कई युगों का जो अन्तराल दिखाई देता है उसी के कारण अतिसभ्य एवं आदिम सरोकार किसी भी भाषा में आपस में संवाद करने की स्थिति में नहीं है। हरिराम मीणा के शब्दों में "इस अन्तराल से परे आदिम समाजों की अस्मिता के सवालों को जब इस उत्तर-आधुनिक एवं वैश्विक दौर में समझने का प्रयास किया जायेगा तो एक छोर पर वह आदिम समाज है जिन्हें हम आदिवासी के नाम से जानते हैं, ये लोग अभी भी जीवन के प्रति आदिम दृष्टिकोण अपनाये हुए हैं। दूसरी ओर मुख्य राष्ट्र-समाज का विकसित एवं उच्च तकनीक से सम्पन्न वह वर्ग सामने आता है जो राष्ट्र- समाजों की सीमाओं को भी तोड़ता हुआ वैश्विक अग्रणी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।"[1]

आदिवासी अस्मिता का विश्लेषण करने के लिए 'आदिवासी' शब्द की व्याख्या के साथ- साथ आदिवासी जन समुदायों की पहचान भी अनिवार्य है। भारतीय समाज का अलग-थलग पड़ा यह हिस्सा अपनी संस्कृति को अनोखी मान्यताओं, परम्पराओं एवं संस्कारों से आज भी जीवित रखे हुए हैं। पूरे देश के विभिन्न अंचलों में आदिवासी जन समुदाय बिखरे पड़े हैं जिनमें से अधिकांश का परस्पर कोई सम्पर्क नहीं है। इन समुदायों की सांस्कृतिक जीवनशैली में कमावेश अन्तर दिखाई देता है फीर भी इनका समेकीकृत स्वरूप आदिवासी जन की एक छवि को इंगित करता है। हरिराम मीणा के शब्दों में 'यह छवि ही आदिवासी की पहचान है और इस पहचान को मानव समाज के रूप में सम्मान देना ही आदिवासी अस्मिता कही जा सकती है।'

आदिवासी शब्द 'आदि' और 'वासी इन दो शब्दों से मिलकर बना है। आदि अर्थात जो सबसे पहले से है और 'वासी अर्थात् निवासी। गंगासहाय मीणा ने 'आदिवासी' शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है- "'आदिवासी' देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है।"[2]

'आदिवासी पद में 'आदि' इन जन-समुदायों के आदिम होने का बोध कराता है। आदिवासी शब्द एक पहचान को चिन्हित करता है। यह पहचान उनकी अस्मिता से जुड़ी हुई है। इस तरह भारतीय समाज में आदिवासी उन समूह एवं समुदायों के लिए प्रयुक्त होता है जो अपनी समान जीवन स्थितियां एवं दुःख-दर्द के साथ रह रहे हैं एवं जिनमें मूल मानवता का स्वर सुनाई देता है। भारत में आदिवासियों का इतिहास संघर्ष का इतिहास रहा है। सदियों पहले आदिवासियों को सभ्यता से बहिष्कृत कर जंगलों में धकेल दिया गया। इन जन-समुदायों ने जंगलों में रहते हुए अपनी संस्कृति की विरासत कायम रखी और पूरे आत्म-सम्मान के साथ जीते रहें। इसी संदर्भ में रमणिका गुप्ता ने लिखा है- "एक पराजित समूह होते हुए भी आदिवासियों ने अपनी संस्कृति, भाषा, अपने जीने की सामूहिक शैली, परम्पराओं और रीति-रिवाजों की विरासत को जिंदा रखा है।"[3]

जब-जब आदिवासियों के संस्कार, रीति-रिवाज, परम्परा व अस्मिता को नष्ट करने का प्रयास किया है, तब-तब ये लोग बाहरी घुसपैठ के खिलाफ उठ खड़े हुए है। असल में आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न उनके जल, जंगल, जमीन तथा प्राकृतिक संसाधनों के अधिकारों से जुड़ा हुआ है। आदिवासियों के पास अगर जंगल और जमीन न हो तो उस आदिवासी की पहचान ही खत्म हो जाती है । अंग्रेजों से लेकर शोषण के तमाम तन्त्रों ने आदिवाससियों पर अत्याचार किया। अपनी धूमिल अस्मिता व आत्मसमान को बचाने के लिए आदिवासियों ने अंग्रेजी राज में कड़ा संघर्ष किया। आदिवासी क्षेत्रों में अंग्रेजों के द्वारा अतिक्रमण के विरोध में आवाज भी उठी। अंग्रेजों के पक्षपात, ; 1855 ई., 'मुण्डा अन्याय और अत्याचार के खिलाफ 'कोल विद्रोह' ; 1831 ई. 'संथाल विद्रोह' ; 1855 ई., विद्रोह ;1900 ई. आदि अनेक जन-आन्दोलन हुए। इन आन्दोलनों के माध्यम से आदिवासियों ने अपनी अस्मिता, अधिकारों, जीवन एवं भूमि की सुरक्षा के साथ अपने सम्मान व अस्तित्व को पुनः स्थापित किया। रूपचन्द्र वर्मा ने 'कोल विद्रोह के संबंध में लिखा है- "इसे 1857 की महान क्रांति के पूर्व का प्रथम स्वतंत्राता संग्राम कहा जा सकता है। 'मुंडा विद्रोह' सेठ साहूकारों द्वारा आदिवासियों के शोषण के विरुद्ध तीखा आक्रोश था जो आदिवासी अस्मिता के उदय में मिल का पत्थर साबित हुआ। मुंडा विद्रोह के संबंध में नदीम हसनैन ने लिखा है- 'सभी प्रकार के शोषण और अत्याचारों के विरुद्ध मुंडा विद्रोह भी जनजातीय आक्रोश का उत्कृष्ट उदाहरण है।"[4] इस तरह आदिवासियों ने हमेशा शोषण का विरोध किया। कहीं वन विभाग के कर्मचारियों व ठेकेदारों के खिलाफ, कहीं दिकुओं जमींदारों, महाजनों की लूट व अत्याचार के खिलाफ, कहीं प्रशासन पुलिस के खिलाफ अनेक लड़ाईयाँ लड़ी। जब-जब आदिवासी अस्मिता पर खतरा लगा तब -तब इन जन-समुदायों ने अपनी अस्मिता व अधिकारों के लिए संघर्ष किया और सशस्त्रा विद्रोह भी किये।

साहित्य समाज का नव सृजन करता है। समाज को नयी दशा व दिशा प्रदान करता है। बीसवीं सदी के अंत में भारत में नए सामाजिक आंदोलन दृष्टिगत हुए। दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों व जनजातीय समुदायों ने नई एकजुटता के माध्यम से अपने प्रति शोषण का विरोध किया और संपूर्ण समुदाय की मुक्ति हेतु सामूहिक अभियान चलाया। सामाजिक राजनीतिक आंदोलन के साथ-साथ साहित्यिक आंदोलन भी इस अभियान का मुख्य हिस्सा था। दलित विमर्श और स्त्री विमर्श इसी का परिणाम है। आज़ादी के पश्चात् प्रकाश में आए अस्मितावादी विमर्शों में दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श के बाद सबसे नया विमर्श आदिवासी विमर्श है। अब आदिवासी चेतना से युक्त आदिवासी साहित्य हिंदी साहित्य पटल पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुका है। आज आदिवासी साहित्य हिंदी के अलावा लगभग 100 आदिवासी भाषाओं में प्रचुर मात्रा में लिखा जा रहा है। दशकों के संघर्ष और प्रतिरोध के पश्चात् आज आदिवासी साहित्य को स्वायत्त विषय के रूप में केन्द्रीय परिधि में लाया जा रहा है, आदिवासी समाज व साहित्य पर निरन्तर पर चर्चा की जा रही है। किंतु आदिवासी समाज की तरह आदिवासी साहित्य का संघर्ष आज भी जारी है। आज भी आदिवासी साहित्य अनेक समस्याओं एवं चुनौतियों से जूझ रहा है। इसका प्रमुख कारण आदिवासी समाज, जीवन से बाहरी समाज का अपरिचय और उपेक्षापूर्ण रवैया है। आदिवासी समाज से संवाद करने का आदिवासी साहित्य महत्त्वपूर्ण ज़रिया हो सकता है, बशर्ते उसका सही मूल्यांकन किया जाये इस हेतु इसके बुनियादी तत्वों की समझ होना अपरिहार्य है। आदिवासी साहित्य की उचित धारणाएँ एवं मापदण्ड होने आवश्यक हैं। इक्कीसवीं सदी के विमर्शों में आदिवासी विमर्श केन्द्र में है। जहाँ कुछ विमर्श राजनीति में पले तो कुछ अस्मिता व अस्तित्व को लेकर वाद-विवाद के विषय रहें, वहीं आदिवासी विमर्श में राजनीति और अस्मिता दोनों का समावेश है। आज आदिवासी साहित्य रचना के नाम पर लेखकों में प्रतिस्पर्धा हो रही है। ग़ैर-आदिवासी रचनाकारों द्वारा आदिवासी संस्कृति, जीवन और समाज पर आदिवासी साहित्य रचा जा रहा है, जबकि उन्हें आदिवासी दर्शन और संस्कृति की पर्याप्त जानकारी तक नहीं है। ऐसी रचनाओं को आदिवासी साहित्य कहकर प्रचारित, पाठित व वाचित किया जा रहा है, तथ्यों को नकारात्मक रूप में पेश किया जा रहा है। ऐसा साहित्य आदिवासी साहित्य को लेकर अधिकांशतः भ्रामक ही सिद्ध हुआ है। ग़ैर -आदिवासी प्रतिमानों द्वारा आदिवासी साहित्य को मूल्यांकित किया जा रहा है। दलित साहित्य की तर्ज़ पर ही आदिवासी साहित्य की सैद्धांतिकी निर्मित करने के प्रयास जारी हैं। ग़ैर-आदिवासियों का आदिवासी विषयक साहित्य भी साम्राज्यवाद विरोधी अभियान में आदिवासियों को महज़ आर्थिक संघर्ष के रूप में देखता है। सांस्कृतिक तौर पर भी आदिवासी दर्शन व साहित्य को आर्य संस्कृति में समाहित करने का प्रयास करता है। इस रचाव-बचाव के दौर में कुछ 'आदिवासी' साहित्यकार और बुद्धिजीवी, जिनका सामाजिक वर्ग बदल रहा है या बदल चुका है, ग़ैर-आदिवासी विश्वव्यवस्था की वर्चस्ववादी संस्कृति की शब्दावलियों का इस्तेमाल कर विमर्श को बहुत ही सूक्ष्म ढंग से आदिवासियों के ही ख़िलाफ़ ले जाने की कोशिश में लग गये हैं। व्यवस्था के पद-प्रतिष्ठा और पुरस्कारों से लदे ये बुद्धिजीवी आदिवासियों को अविकसित एवं पिछड़ा बताकर व्यवस्था के साथ सामंजस्य बनाने का सुझाव दे रहे हैं। उनके अनुसार आदिवासी समाज और साहित्य तथाकथित मुख्यधारा से अनुकूलन करके ही आधुनिक सभ्यता का लाभ उठा सकता है। इस परिदृश्य में आदिवासी साहित्य की अवधारणा एवं उसकी मूल दार्शनिक आधारभूमि को मज़बूती से रेखांकित करना अति आवश्यक है। आदिवासी साहित्य के बारें में सही समझ, सही धारणाएँ निर्मित करना आवश्यक है।

यद्यपि आदिवासी साहित्य की अवधारणा या सैद्धांतिकी पूर्णतः विकसित नहीं हुई है, इसकी प्रस्थापनाएँ अभी विमर्श के दौर से गुज़र रही हैं। आदिवासी साहित्य को समझने के लिए आदिवासियों की वाचिक परंपरा को समझना होगा, जो अत्यधिक समृद्ध है। यूँ तो स्वयं आदिवासी जीवन और समाज किसी प्रकार के शास्त्र या सिद्धांतों का बंधन नहीं मानता, परंतु आदिवासी साहित्य के बारें में भ्रमित तथ्यों एवं प्रतिमानों के समाधान हेतु कुछ बुनियादी तत्त्वों पर चर्चा करना ज़रूरी है। आदिवासी साहित्य के पाठ और समझ को नए सिरे से देखने एवं समझाने के लिए इसकी अंतर्वस्तु एवं स्वरूप की समझ होनी आवश्यक है। इस पर विचार करते समय सबसे पहले प्रश्न उठता है कि आदिवासी साहित्य किसे कहेंगे? आदिवासी दर्शन क्या है और आदिवासी साहित्य में इसका क्या महत्त्व है? आदिवासी साहित्य के अंतर्गत किन-किन रचनाकारों को रखा जाये? क्या आदिवासी साहित्य की विश्व के शेष साहित्य से कोई पृथक संकल्पना है? साथ ही यह प्रश्न कि साहित्य परम्परा में क्या आदिवासी साहित्य को पर्याप्त स्थान दिया गया है? क्या इस साहित्य को तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य के समान्तर या विविधता के स्तर पर देखा समझा जा सकता है? उपर्युक्त सभी प्रश्न आदिवासी साहित्य की अवधारणा या स्वरूप से जुड़े हुए हैं। स्पष्ट है आदिवासी साहित्य यानी आदिवासियों द्वारा लिखा गया जिसमें आदिवासी संस्कृति, दर्शन, जीवन शैली, प्रकृति और उनकी समस्याओं का चित्रण हो । उसे हम आदिवासी साहित्य कह सकते हैं। आदिवासी साहित्य स्वांतः सुखाय नहीं लिखा जाता। यह प्रतिबद्ध साहित्य है और बदलाव के लिए कटिबद्ध है। आदिवासी साहित्य से अभिप्राय उस

साहित्य से है जिसमें आदिवासियों का जीवन व समाज उनके दर्शन के अनुरूप व्यक्त हुआ है। कुछ आदिवासी साहित्यकारों व लेखकों ने आदिवासी साहित्य को निम्न प्रकार परिभाषित किया है- प्रसिद्ध मराठी आदिवासी साहित्यकार डॉ. विनायक तुमराम कहते हैं- "आदिवासी साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है। आदिवासी साहित्य वन जंगलों में रहने वाले उन वंचितों का साहित्य है, जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है, जिनके आक्रोश पर मुख्यधारा की समाज-व्यवस्था ने कान ही नहीं धरे। यह गिरि -कन्दराओं में रहने वाले अन्याय ग्रस्तों का क्रांति साहित्य है। सदियों से जारी क्रूर और कठोर न्याय व्यवस्था ने जिनकी सैंकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया, उस आदिम समूह का मुक्ति - साहित्य है आदिवासी साहित्य। वनवासियों का क्षत जीवन, जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की खोज है यह साहित्य। आदिवासी साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम-वेदना तथा अनुभव का शब्दरूप है।"[5]

प्रसिद्ध आदिवासी कवयित्री रमणिका गुप्ता कहती हैं "मैं आदिवासी साहित्य उसी को मानती हूँ जो आदिवासियों ने लिखा और भोगा है। उसे आदिवासी समस्याओं, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक स्थितियों तथा उनकी जीवन-शैली पर आधारित होना होगा। अर्थात् आदिवासियों द्वारा आदिवासियों के लिए आदिवासियों पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य कहलाता है।"[6]

वैसे जो आदिवासी समर्थक साहित्य के रचनाकार होते हैं, वे भी आदिवासियों की समस्याओं के हल हेतु कंधे से कंधा मिलाकर खडे होते हैं। आदिवासी कथाकार रूपलाल बेदिया के अनुसार- "अगर आदिवासी विषय, दर्शन, संस्कृति के अनुकूल साहित्य ग़ैर-आदिवासी लेखक भी लिखते हैं तो उसे आदिवासी साहित्य मानना चाहिए। हमारी वाचिक परम्परा में जो समिद्ध साहित्य है उससे बहारी समाज के लेखक परिचित नहीं है। उन्हें लिखित रूप में सामने लाने की ज़रूरत है।"[7]

प्रो. व्यंकटेश आजाम लिखते हैं- "जो आदिवासी जीवन से प्रेरणा लेकर लिखा हुआ है, वह आदिवासी साहित्य है।"[8]

आदिवासी लेखिका वंदना टेटे की स्थापना है कि- "ग़ैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासियों पर रिसर्च करके लिखी जा रही रचनाएँ शोध साहित्य है, आदिवासी साहित्य नहीं। आदिवासियत को नहीं समझने वाले हिंदी-अंग्रेज़ी के लेखक आदिवासी साहित्य लिख भी नहीं सकते। सुनी-सुनाई बातों से आदिवासी जीवन का सच प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।"[9]

आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर आदिवासी एवं ग़ैर-आदिवासी दृष्टि में तीन तरह के मत हैं-

आदिवासी विषय पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है। यह अवधारणा ग़ैर-आदिवासी लेखकों की है। संजीव, राकेश कुमार सिंह, महुआ माजी, रमणिका गुप्ता, बजरंग तिवारी आदि इसके समर्थक रहे हैं।

आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है। इस अवधारणा से संबंधित साहित्यकार/लेखक जन्मना एवं स्वानुभूति के आधार पर आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही आदिवासी साहित्य मानते हैं।

'आदिवासियत' अर्थात् आदिवासी दर्शन के तत्त्वों वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। इस अवधारणा को आदिवासी साहित्य की परिभाषा के सर्वाधिक नज़दीक माना जा सकता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं एवं मतों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जिसमें आदिवासी दर्शन होगा, वही सच्चे मायनों में आदिवासी साहित्य होगा। आदिवासी साहित्य जीवनवादी साहित्य है। आदिम समूहों में वर्गरहित, भेदभाव रहित, जाति रहित समाज व्यवस्था करना ही आदिवासी साहित्य का उद्देश्य है। आदिवासी साहित्य की बुनियादी शर्त उसमें आदिवासी दर्शन के तत्त्वों का होना है।

सवाल उठता है कि 'आदिवासियत' या आदिवासी दर्शन का स्वरूप क्या है और आदिवासी साहित्य में इसकी पहचान कैसे करेंगे? इसके जवाब में कह सकते हैं कि आदिवासियों के जीवन व समाज से संबंधित प्रत्येक विशेषता, परम्पराएँ जैसे- प्रकृति के सान्निध्य में रहना, मानवेतर प्राणी जगत के साथ सह-अस्तित्व, अपने आप में खुलापन, सामूहिकता, सहभागिता, आदिवासी संस्कृति, जीवन-शैली, उनकी अपनी समस्याएँ, स्वतंत्रता, जल, जंगल, ज़मीन, अपनी मातृभाषा, अपना इतिहास, लोककथाएँ, मुहावरे, मिथक, विकास की अपनी परिभाषा इत्यादि सब आदिवासी दर्शन के अंतर्गत निहित है। जल, जंगल, जमीन आदिवासियों के मूल आधार हैं और आदिवासी साहित्य के मूल तत्त्व भी यहीं होने चाहिएँ। इन तत्त्वों के आधिकारिक अनुभव के साथ जो साहित्य लिखा जा रहा है, उसे हम आदिवासी साहित्य कहेंगे, किंतु जो आधिकारिक अनुभव पर आधारित नहीं है, विशुद्ध काल्पनिक है, जिसे केवल रोमांटिक नज़रिये से देखा गया है, वह आदिवासी साहित्य नहीं है। आदिवासी जीवन की गहन अनुभूति के आधार पर रचा जाने वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य होगा।

हिंदी में पिछले दो - तीन दशकों से अस्मितावादी लेखन चर्चा का विषय बना हुआ है। यही दौर है जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी आदि उत्पीड़ित अस्मिताओं ने साहित्य में बढ़-च बनाने के लिए इसकी स्रात सामग्री और उसके आधार पर बनने वाली आदिवासी साहित्य की परंपरा की पड़ताल करनी बहुत जरूरी है। साथ ही आटिवासी साहित्य की विचारधारा पर भी बात करनी आवश्यक है। जब हम आदिवासी साहित्य की परंपरा और विचारधारा का व्यवस्थित अध्ययन करेंगे तो उसकी प्रवृत्तियों को भी समझ पायेंगे। जाहिर है मुक्तिकामी विमर्शों के दौर में इन विमर्शों और अस्मिताओं से संबंधित साहित्य की सही परंपरा और प्रवृत्तियों के अध्ययन के माध्यम से ही हम मूल्यांकन की सही प्रविधि निर्मित कर पायेंगे। आदिवासी साहित्य के अध्येता प्रो. वीर भारत तलवार ने तद्भव - 34 में छपे अपने लेख में आदिवासी संबंधी साहित्य की चार श्रेणियाँ बनाई हैं-

1. कुछ ऐसे लेखक हैं जो आदिवासी समाज के बारे में बहुत कम और सतही जानकारी रखते हैं और साथ ही अपने सवर्ण हिंदू संस्कारों से ग्रस्त हैं, अपने सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्वाग्रहां से ग्रस्त हैं और उसी दृष्टि से आदिवासी समाज को चित्रित करते हैं।
2. दूसरी श्रेणी उन लेखकों की है जो लंबे समय से आदिवासियों के करीबे रहते आए हैं और उनसे पूरी सहानुभूति रखते हैं, उनके समाज से थोड़ा-बहुत वाकिफ भी हैं। इनकी मुख्य प्रवृत्ति आदिवासियों के दमन, शोषण और उत्पीड़न को चित्रित करने और उनकी आर्थिक राजनीतिक समस्याओं को उठाने की है।
3. उन लेखकों का साहित्य जा आदिवासियों के बीच लंबे समय तक रहे हैं, जिन्होंने उनका अच्छा और बुरा देखा है और उनकी प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास किया है। और
4. चौथी श्रेणी खुद आदिवासियों द्वारा लिखे साहित्य की है। वह उन्होंने अपनी मूल भाषाओं में लिखा हो या हिंदी, बांग्ला या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में, इससे फर्क नहीं पड़ता।' इन चार श्रेणियों में से वीर भारत तलवार चौथी श्रेणी को ही प्रामाणिक आदिवासी साहित्य मानते हैं और शेष तीन श्रेणियों को आदिवासी संबंधी साहित्य। चाथी श्रेणी, यानी स्वयं आदिवासियों द्वारा लिखित साहित्य के बारे में वे लिखते हैं, "इसकी गुणवत्ता बिल्कुल अलग किस्म की है। आदिवासियों के जीवन और समाज के सच्चे चित्र यहीं मिलते हैं।'

आदिवासी साहित्य के नाम पर मुख्यतः तीन तरह का साहित्य हमारे सामने है:

आदिवासियों के बारे में लिखा गया साहित्य।
आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य।
आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य।

आदिवासियों के बारे में लिखे गए साहित्य का आदिवासी साहित्य के रूप में दावा करना सहज है इसीलिए शोधार्थी अक्सर रेणु के 'मैला आंचल' के संथाल प्रसंग या यागेन्द्रनाथ सिन्हा के 'वनलक्ष्मी से आदिवासी साहित्य की शुरुआत मान लेते हैं। कुछ लोग तो तुलसीदास के रामचरितमानस में आए वन के प्रसंगों को भी आदिवासी साहित्य में मान लेते हैं और इसी दृष्टि से विश्लेषण करने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि जहाँ भी वन, जंगल या किसी आदिवासी समुदाय का जिक्र आ जाता है, उसे ही आदिवासी साहित्य मान लिया जाता है और इससे 20वीं सदी के आखिरी दशक में प्रमुखता से उभरे आदिवासी साहित्य के आंदालन के बारे में भ्रमों का निमार्ण होता चला जाता है। आदिवासी चिंतक हिंदी साहित्य में आए वन या आदिवासी प्रसंगों को आदिवासी साहित्य मानने से इनकार करते हैं। इस तरह आदिवासी साहित्य के बारे में दूसरा विचार सामने आता है- आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। यह विचार स्त्रीवादी साहित्य और दलित साहित्य के प्रभाव में निर्मित हुआ है। जाहिर है इस तर्क की अपनी सीमाएँ हैं। अनुभूति की प्रामाणिकता किसी साहित्य का एकमात्र आधार नहीं हो सकती। आज जब आदिवासी समाज गहरे सांस्कृतिक हमलों से गुजर रहा है, ऐसे में आदिवासी समाज का सच लिखने के लिए केवल किसी समुदाय में पैदा हो जाना काफी नहीं है। आदिवासी समुदायों का बड़ी संख्या में हिंदूकरण और ईसाईकरण हुआ है। इसने उनकी मौलिक समझ और दर्शन को बहुत प्रभावित किया है। इस प्रक्रिया में आदिवासी साहित्य की अवधारणा को लेकर तीसरा विचार सामने आता है कि आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य ही आदिवासी साहित्य माना जाए। जाहिर है आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है। यह आदिवासी जीवन का मूल है और जिस पर चातरफा हमले हो रहे हैं इसलिए जहाँ आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य की मूल शर्त है वहीं इसे बचाना आदिवासी साहित्य आंदालन का मुख्य ध्येय है।

निष्कर्षत: आदिवासी विमर्श बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में शुरु हुआ अस्मितामूलक विमर्श है। इसके केंद्र में आदिवासियों के जल जंगल जमीन और जीवन की चिंताएं हैं। माना जाता है कि 1991 के बाद भारत में शुरु हुए उदारीकरण और मुक्त व्यापार की व्यवस्थाओं ने आदिम काल से संचित आदिवासियों की संपदा के लूट का रास्ता भी खोल दिया। विशाल एवं अत्यंत शक्तिशाली बहुराष्ट्रीय एवं देशी कंपनियों ने आदिवासी समाज को उनके जल, जंगल और जमीनों से बेदखल कर दिया। इसने आदिवासी इलाकों में बड़े पैमाने पर विस्थापन को जन्म दिया। बड़ी संख्या में झारखंड, छत्तीसगढ़, दार्जिलिंग आदि इलाकों से लोग बड़े महानगरों जैसे दिल्ली, कोलकाता आदि में आने को विवश हुए। इन आदिवासी लोगों के पास न धन था, न ही आधुनिक शिक्षा थी। शहरों में ये दिहाड़ी मजदूर या घरेलू नौकर बनने को बाध्य हुए। विशालकाय महानगरों ने इनकी संस्कृति, लोकगीतों और साहित्य को भी निगल लिया। नई पीढ़ी के कुछ आदिवासियों ने शिक्षा हासिल की और अवसरों का लाभ उठाकर सामर्थ्य अर्जित किया। उन्होंने सचेत रूप से अपने समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए आवाज उठाना आरंभ किया। उन्होंने संगठन भी बनाए। आदिवासियों ने अपने लिए इतिहास की नए सिरे से तलाश की। उन्होंने अपने नेताओं की पहचान की। अपने लिए नेतृत्व का निर्माण किया। साथ ही समर्थ आदिवासी साहित्य को जन्म दिया। प्रतिरोध अस्मितामूलक साहित्य की मुख्य विशेषता है। आदिवासी विमर्श भी आदिवासी अस्मिता की पहचान, उसके अस्तित्व संबंधी संकटों और उसके खिलाफ जारी प्रतिरोध का साहित्य है। यह देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति भेदभाव का विरोधी है। यह जल, जंगल, जमीन और जीवन की रक्षा के लिए आदिवासियों के 'आत्मनिर्णय' के अधिकार की माँग करता है।

आदिवासी साहित्य आदिवासी दर्शन पर आधारित साहित्यिक आंदोलन है जो आदिवासी परंपरा से अपने तत्व लेता है और 21वीं सदी के पहले दशक में अकादमिक जगत में अपना अलग साहित्यिक आंदोलन होने का दावा प्रस्तुत करता है। समकालीन आदिवासी लेखन की शुरुआत हमें उदारवाद, बाजारवाद और भूमंडलीकरण के उभार से माननी चाहिए। भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण उत्पीड़न की प्रक्रिया तेज की, इसलिए इसका प्रतिरोध भी मुखर हुआ । शोषण और उसके प्रतिरोध का स्वरूप राष्ट्रीय था इसलिए प्रतिरोध से निकली रचनात्मक उर्जा का स्वरूप भी राष्ट्रीय था। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा का नाम ही समकालीन आदिवासी साहित्य आंदोलन है। आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किये गए और किये जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है। आदिवासियों ने किसी कौम पर राज करने के लिए नहीं, लेकिन अपना अस्तित्व बचाने के लिए बार-बार विद्रोह किया है। पिछली दो सदियाँ आदिवासी विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह माखिक ही अधिक रही। समकालीन आदिवासी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में आदिवासी समाज में हजारों साल पुरानी साहित्य की माखिक परंपरा को रखा जा सकता है, जिसे पुरखाती कहा जाता है। पूर्वोत्तर भारत में लगभग डेना, माकी मुंडा, गोंड रानी दुर्गावती और तमाम आदिवासी पुरखों के जीवन और आंदोलनों से चेतना और प्रेरणा लेकर आगे बढ़ रहा है।

****

संदर्भ सूची: -

1. आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2013, पृष्ठ 168
2. आदिवासी साहित्य विमर्श, गंगासहाय मीणा, पृष्ठ 19-249
3. आदिवासी अस्मिता के प्रश्न, रमणिका गुप्ता, हाशिये का वृत्तांत, सं. दीपक कुमार, देवेन्द्र चाबे, पृष्ठ 353
4. आदिवासी साहित्य यात्रा, सं. रमणिका गुप्ता, संस्करण 2016, पृष्ठ 24
5. आदिवासी साहित्य: परम्परा और प्रयोजन, वंदना टेटे, प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ 87
6. आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, संस्करण 2016, पृष्ठ 24
7. आदिवासी साहित्य, सं. खन्नाप्रसाद अमीन, पृष्ठ 24
8. हरिराम मीणा जी का साक्षात्कार, युद्धरत सं. रमणिका गुप्ता
9. आदिवासी साहित्य यात्रा, सं. रमणिका गुप्ता, संस्करण 2016, पृष्ठ 29

हिंदी उपन्यासों में उत्तर आधुनिकता विमर्श

प्रो.जयवंत मधुकर बाबर
डॉ.डी.वाय.पाटील कला,वाणिज्य
तथा विज्ञान महाविद्यालय,पिंपरी पुणे -४११०१८ महाराष्ट्र

शोध-निबंध का सार –

उत्तर आधुनिकता पर पाश्च्यात्य देशों का प्रभाव है। इस विचारधारा में नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है। आज लोग भौतिकवाद के पीछे दौड रहे हैं । वर्तमानकाल में मानवता का ह्रास होकर अमानवता को बढ़ावा मिल रहा है ।लोग उपभोक्ता संस्कृति को अपना रहे हैं। इसका प्रभाव अधिकतर नई पीढी पर निर्माण हो रहा है। आज समाज में यौन संबंधों का खुलापन निर्माण हो रहा है। साथ ही रिश्ते नातों में कृत्रिमता तैयार हो गई है। इससे मानवीय संवेदनाएँ समाप्त हो रही है, जिसे हिंदी उपन्यासकारों ने चित्रित करने का प्रयास किया है।

प्रस्तावना – पोस्ट मॉडर्निज्म एक संकल्पना है। पोस्ट का अर्थ है-एक खास तरह से अंत होने की सूचना देना और मॉडर्निज्म का अर्थ है- नए का स्वीकार करना।पोस्ट मॉडर्निज्म इसका हिंदी अनुवाद उत्तर आधुनिकता है। इसका सबसे पहले प्रयोग सन १९६० ई.में अरनॉल्ड टोयन्बी ने किया है। इसके बाद उत्तर आधुनिकता पर अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए ।परिणामस्वरूप इसका माहौल उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है । उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता की अगली कड़ी मानी जाती है ।उत्तर आधुनिकता पाश्च्यात्य देशों की उपज है । इस पर मूलत: यूरोप और अमरिका का प्रभाव है। परम्पराओं का विरोध, वैज्ञानिकी आविष्कार, खोज, औद्योगिकीकरण का उत्तरोत्तर बढ़ना, तंत्रज्ञान के क्षेत्र में विकास आदि विचारधाराओं में परिवर्तन ही उत्तर आधुनिकता के परिणाम का फल है। इस सन्दर्भ में डॉ.गीता वर्मा लिखती हैं की "उत्तर आधुनिकता दर्शन, विज्ञान, साहित्य,कला और भाषा से जुड़ गई है । यह विचारधारा वैश्वीकरण से पनपी है, जिसमे पूँजिपति और साम्राज्यवाद के समर्थक उपभोक्ता संस्कृति की स्थापना करना चाहते है। इसमे उपभोक्तावादी विक्षिप्तता के माहौल में मानव जीवन की सारी मान्यताएँ, नैतिक मूल्य जटिलताओं से उलझकर उलट-पुलट गए है। साथ ही वैश्वीकरण के मायाजाल में फँसकर नैतिक मूल्यों को त्यागकर लोग भौतिकवाद के पीछे दौड लगा रहे है, जिसमे अमानवीयता को बढ़ावा मिलकर मानवता का ह्रास हो रहा है।"[१] आज यह विषय चिंतन का विषय बन गया है।यह प्रवृत्ति काफी रफ़्तार के साथ आगे बढ़ रही है।उत्तर आधुनिकतावादी विद्वान प्राचीन काल से लेकर आज तक के ज्ञानों और विज्ञानों को खंड-खंड करके विश्लेषण कर रहे है। जिस पर हिंदी उपन्यासकारों ने लेखनी चलाई है ।

शोध निबंध -उत्तर आधुनिकता की प्रमुख प्रवृत्ति उपभोक्तावादी संस्कृति है ।वर्तमानकाल में उपभोक्तावादी प्रवृत्ति ने सम्पूर्ण विश्व को बाजार की शक्ल प्रदान की है है पूँजीवादी रहन-सहन को अपनाने की जो खुली छूट मनुष्य को मिल रही है ।उससे उपभोक्तावादी आकांक्षा की प्रवृत्ति पनप रही है । उपभोक्तावादी संस्कृति के परिणामस्वरूप समाज में कामुकता, विलासिनता, विक्षिप्तता एवं अश्लीलता का निर्विरोध प्रवेश हो रहा है । इस प्रकार की प्रवृत्ति उत्तर आधुनिकता की उपज है। उत्तर आधुनिकता से उपभोक्तावादी आकांक्षायें, जीवन जीने की नई कला, नैतिक पतन एवं यौन संबंध के बदलते प्रवाह निर्माण हो रहे है । उपभोक्तावादी प्रवृत्ति के शिकंजे में फँसकर मनुष्य का जीवन 'वस्तु' में तब्दील हो गया है । वर्त्तमान परिवेश में मनुष्य जीवन के सामने सबसे बड़ा अवरोध है पूँजीवाद से निर्मित उपभोक्तावाद । उत्तर आधुनिकता के दौर में उपभोक्तावाद की सनक नई पीढ़ी में अधिक मात्रा में दिखाई देती है । वैसे देखा जाए तो नई पीढ़ी ख़राब नही है। वह जो देखती है, सुनती है उसी को अपनाती है । उसमें सही-गलत की पहचान नहीं रह गयी है।इस विक्षिप्त उपभोक्तावादी माहौल में मनुष्य अपनी मानवीय संवेदनाएँ एवं स्वाभाविक जीवन को नकारकर बदलते चकाचौंध एवं तकनिकी जटिलताओं में उलझ रहा है । उसे हिंदी उपन्यासकारों ने रेखांकित करने का प्रयास किया है ।

मनोहरश्याम जोशी का हमजाद उपन्यास उपभोक्तावादी संस्कृति को दर्शाता है । प्रस्तुत उपन्यास में वैध-अवैध की चिंता किए बिना यौन संबंधों का जितना खुलापन मिलता है, उतना अन्य किसी उपन्यास में नहीं मिलता है । उसे देखने के बाद सभ्य समाज को उपन्यास पढ़ पाना असंभव-सा हो जाता है । इसमें टी.के.नामक पात्र की शराब, जुआ और सेक्स उसकी प्राथमिकता रही है। उसने तखतराम के साथ समलैंगिक संबंध रखे थे। वह तखतराम की बहन से भी संबंध रखता है। टी.के.स्नेहबाई,कनक,मैना,रीटा,सरस्वती आदि महिलाओं से संबंध रखता है। वह अनेक लोगों की संपत्ती फँसाकर लेता है। प्रस्तुत उपन्यास का संवाद उपभोक्तावादी संस्कृति को दर्शाता है। "इतना नीचे मत गिर, वह तेरी बेटी और डोत्री दोन्हों है। वह हँसा और मेरी जाँघो पर हात मारकर बोला, मेरी बेटी लाते हुए तुझे परहेज होता है तो जा अपनी बेटी ले आ।"[२] इस प्रकार उत्तर आधुनिकता के कारण उपभोक्तावादी संस्कृति सामने आ रही है । सुरेंद्र वर्मा द्वारा लिखित दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता उपन्यास में उपभोक्तावादी संस्कृति को प्रस्तुत किया है । इस उपन्यास में दो यूवकों के माध्यम से दुनियारुपी बाजार का चित्रण हुआ है । प्रस्तुत उपन्यास में दो दोस्त नील और भोला मुंबई में नसीब अजमाने पहुँचते हैं । भोला अंडरवर्ल्ड में अपनी किस्मत आजमाता है और तरक्की भी करता है । वह नाचनेवाली शालू के साथ प्रेम संबंध रखता है । नील धनाढ्य महिलाओं के लिए पुरुष वेश्या बन जाता है। पारुल नील को पाना चाहती है, पर वह पारुल को नकारता है । पारुल के घरवाले मफियावालों के जरिए नील की हत्या करते है । इस प्रकार उपभोक्तावादी प्रवृति से मनुष्य का जीवन दिशाहीन हो गया है ।

उत्तर आधुनिकता की दूसरी प्रवृत्ति विखंडनवाद है । यह प्रवृत्ति समानता की जगह पर विविधता का स्वीकार करती है । यह प्रक्रिया केन्द्रीकरण से विकेंद्रीकरण की ओर जाती है। उत्तर आधुनिकता की यह प्रवृत्ति यूरोप के केंद्र को तोड़कर अपने अनेक नए केंद्र को रचती हुई बहुकेंद्रीय बन रही है । इस उत्तर आधुनिकता प्रवृत्ति के अंतर्गत समाज विखंडित एवं श्रेणीमय बनता है और इस श्रेणी में हर विखंडित समूह अपने आसपास फिर से केंद्र बनता नजर आता है। इस सन्दर्भ में विशाल शुक्ला लिखते है कि, "आधुनिकता में एक ओर महान विचारों को अंकित किया जाता है ।तो दूसरी ओर उत्तर आधुनिकता में यह विचार बिखरने यानी विखंडित होते नजर आते है"। [३] आधुनिकता के अंतर्गत केन्द्रीयता,सार्वभौमत्व एवं केन्द्रीय वर्चस्ववाद को नकारकर विकेंद्रियता एवं स्थानीयता पर बल दिया जाता है ।आधुनिकता पुनर्सृजन का समर्थन करता है तो उत्तर आधुनिकता विखंडन एवं अलग पहचान का समर्थन करता है। जिसे साहित्यकारों ने अपने उपन्यासों में रेखांकित करने का प्रयास किया है ।

मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी' उपन्यास विखंडित प्रवृत्ति को दर्शाता है। प्रस्तुत उपन्यास में बंटी नामक एक ऐसे संवेदनशील बालक की कथा अंकित हुई है जो पढ़े-लिखे माँ-बाप की संतान है। माँ-बाप के अतिरिक्त अहं के बीच बंटी जैसा बेगुनाह बच्चा बलि का बकरा बन जाता है। माँ-बाप के प्यार, स्नेह से वंचित वह 'समस्या बालक' बन जाता है। अजय-शकुन के माध्यम से आधुनिक पति-पत्नी के विखंडित जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है, जो अपना अहं स्वाभिमान से एक-दुसरे के सामने झुकना मान्य नही करते। पति-पत्नी का तनाव बच्चों के जीवन में दुःख की स्थिति निर्माण करता है। इस प्रकार खंडित परिवार के बच्चे एबनॉर्मल बनते है।

कमलेश्वर द्वारा लिखित 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास में विखंडनवादी प्रवृत्ति को स्पष्ट किया है। प्रस्तुत उपन्यास में देश-विदेश में पनपी विखंडित प्रवृत्ति से आदमी एक-दूसरे का द्वेष करके अत्याचार कर रहा है। इस विखंडित प्रवृत्ति से हिंसा का निर्माण होकर असंस्कृतियॉ जन्म लेती है। बलूची, बंगाली,सिन्धी,पंजाबी आदि लोग विखंडित प्रवृत्ति को अपनाकर मजहब के नाम पर लड़ रहे है। प्रस्तुत उपन्यास का पात्र अदीब इन लोगों को पागल घोषित करके दुनिया को बचाने की चाह रखता है। वह कहता है, "ऐसे पागल लोग इस दुनिया में नही मिलते ..... अगर मिलते होते तो सोवियत युनियन नही टूटता, युगोस्लाविया में बोस्निया के मुसलमानों का कत्लेआम न होता, सोमालिया में लोग और बच्चे बरसों बरस अकाल से न मरते, और चार -सौ फिलिस्तीनो इसराईल की सरहद पर भूख, ठण्ड और मौत का इन्तजार न कर रहे होते..... उन्हें इसराईली इस तरह मौत के मुँह में न खदेड़ देते"। [४] इसप्रकार उत्तर आधुनिकता के कारण विखंडित प्रवृत्ति पनप रही है।

उत्तर आधुनिकता की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति बहुसंस्कृतिवाद है। आज जनसंचार माध्यम से विश्व एक ग्लोब गाँव में तब्दील हो गया है। इससे देशों की भौगोलिक सीमाओं के साथ-साथ सांस्कृतिक सीमाएँ भी टूट गयी है। परिणामस्वरूप इस सैलाब में बहती आयी, अन्य आयातित संस्कृति का आक्रमण होकर अपनी जड़े जमा ली है एवं स्थापित सार्थक आदर्श, मूल्यवादी संस्कृति को हाशिए पर खड़ा कर दिया है। इस सन्दर्भ में डॉ.सुरेश पवार लिखते है कि, "उत्तर आधुनिकतावाद के दौर में बहुसंस्कृतिवाद का प्रभूत्व निर्माण होकर सामाजिक बदलाव को आगे ले जानेवाली संस्कृति का निरूपण हो गया है"। [५] मानव इस विस्तार पाती वैश्विक संस्कृति में जीवन के हर क्षेत्र में आत्मस्थापन एवं आत्मखंडन के लिए प्रवृत्त हो गया है। आज मानव उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों से हटकर बहुसंस्कृतिवाद से प्रभावित होकर आदर्श सांस्कृतिक मूल्यों का खंडन कर रहा है एवं अपनी आदर्श सांस्कृतिक जड़ों से हटकर विकसित बनने की होड़ में बड़ी छलांग लगाई है। जिससे एक प्रकार का सांस्कृतिक उपद्रव्य सामने आया है। बहुसंस्कृतिवादी के प्रभाव से विकास के भ्रम के पंख लगाये मानव की छलांग उसे कहाँ लेकर नष्ट करेंगी यह भावी काल के गर्त में छुपा है। बहुसंस्कृतिवाद एक तरफ मानव के विकास में योगदान दे रहा है तो दूसरी तरफ मानव को विनाश की कगार पर खड़ा कर रहा है, जिसे साहित्यकारों ने अपने उपन्यासों में रेखांकित किया है।

गीतांजलि श्री का 'हमारा शहर उस बरस' उपन्यास में बहुसंस्कृतिवाद को दर्शाया है ।प्रस्तुत उपन्यास में प्रो.शरद और प्रो.हनीफ दोन्हों अच्छे मित्र है। वे दोनों धर्म को न मानकर मानवता को महत्त्व देते है। लेकिन वे दोनों विविध धर्मो की बातें करते रहते है। हनीफ कहता है,"यह आधा मुसलमान था, मेरे संग बचा आधा भी रंग गया। मैं आधा हिंदू था, इसके सग सलामत आधा बदल गया। अब बूझो पहेली तो जानें, हममें कौन मुसलमान है, कौन हिंदू?"[६] इस प्रकार दोनों अलग -अलग धर्म के होकर भी एक-दूसरे की विचार संस्कृति अपनाते हैं। इस प्रकार दोनों अलग-

दधनाथ सिंह का 'आखरी कलाम' उपन्यास में भी बहुसंस्कृतिवाद की पैरवी की है। प्रस्तुत उपन्यास में हिंद और मुस्लिम संस्कृती का मिलाफ दिखाया है। लेकिन राजनीतिक लोग सांप्रदायिक विद्वेश फैलाकर इस सांस्कृतिक एकता को धार्मिक कट्टरवाद का रंग चढाकर आम आदमी का जीवन तीतर-बितर कर रहे है।

उषा प्रियंवदा द्वारा लिखित अंतर्वशी उपन्यास में भारतीय और पाश्च्यात्त्य संस्कृति को दर्शाया है। प्रस्तुत उपन्यास की वामा अपनी अतृप्त प्रेम की भूख पति को छोड़कर प्रेमी (राहुल) से बुझाती है। वह प्रेम का खुलकर इजहार करती है। इसप्रकार सांस्कृतिक आक्रमण से उदात्त संस्कृति नष्ट हो रही है और बहुसंस्कृति का अनुकरण मानव को विनाश की ओर ले जा रहा है।

निष्कर्ष :-

अतःस्पष्ट है, कि उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता की अगली कड़ी मानी जाती है। उत्तर आधुनिकता पाश्च्यात्त्य देशों की उपज है। इस पर मूलतः यूरोप और अमरिका का प्रभाव है। परंपराओं का विरोध, वैज्ञानिकी अविष्कार, खोज, औद्योगिकीकरण का उत्तरोत्तर बढ़ाना, तंत्रज्ञान के क्षेत्र में विकास आदि विचारधाराओं में परिवर्तन ही उत्तर आधुनिकता के परिणाम का फल है। उत्तर आधुनिकता दर्शन, विज्ञान, साहित्य, कला और भाषा से जुड़ गई है। यह विचारधारा वैश्वीकरण से पनपी है, जिसमें पूँजीपति और साम्राज्यवाद के समर्थक उपभोक्ता संस्कृति की स्थापना करना चाहते है। इसमें उपभोक्तावादी विक्षिप्तता के माहौल में मानव जीवन की सारी मान्यताएँ, नैतिक मूल्य जटिलताओं से उलझकर उलट-पुलट गए हैं। साथ ही वैश्वीकरण के मायाजाल में फँसकर नैतिक मूल्यों को त्यागकर लोग भौतिकवाद के पीछे दौड रहे है, जिससे अमानवीयता को बढ़ावा मिलकर मानवीयता का ह्रास हो रहा है। यह प्रवृति काफी रफ़्तार (गती) के साथ आगे बढ़ रही है। उत्तर आधुनिकतावादी विद्वान् प्राचीन काल से लेकर आज तक के ज्ञानों और विज्ञानों को खंड-खंड करके विश्लेषण कर रहे है। जिसे हिंदी उपन्यासकारों ने चित्रित किया हैं।

****

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :-

१) डॉ. गीता वर्मा, हिंदी उपन्यासों में उत्तर आधुनिकता विमर्श, दिशा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं: २०१६ पृ.क्र. ७२
२) मनोहरश्याम जोशी, हमजाद,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,प्र.सं:२००८,पृ.क्र.१०७
३) डॉ. विशाल शुक्ला, हिंदी उपन्यासों में विविध विमर्श, प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं: २०१४,पृ.क्र.१२७
४) कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान,राजपाल एंड संस, नईदिल्ली, प्र.सं:२०००, पृ.क्र.७९
५) डॉ. सुरेश पवार, हिंदी उपन्यासों में उत्तर आधुनिकता, गीता प्रकाशन, नई दिल्ली,प्र.सं:२०११, पृ.क्र.१८७
६) गीतांजलि श्री,हमारा शहर उस बरस,राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं:२००७, पृ.क्र.८७

हिन्दी साहित्य के वैश्विक कथाकार : निर्मल वर्मा

रज्जन प्रसाद शुक्ला
केन्द्रीय विद्यालय मालदा
मलिहा, मालदा पश्चिम बंगाल – 732102
ईमेल – rpshukla000@gmail.com संपर्क सूत्र – 9936444618

'जिस लेखक में तुम्हारी आस्था है, वो अपने मरने के बाद तुम्हे जीने के लिए कुछ ऐसी ही जिंदगी सौंप कर जाता है। अगर वो लेखक निर्मल वर्मा हो, तो फिर ठीक यही जिंदगी तुम्हारी जिंदगी में बची रह जाती है जीने के लिए'

सारांश: निर्मल वर्मा हिंदी साहित्य के एक प्रमुख कथाकार हैं, जिन्होंने भारतीय और वैश्विक साहित्य के बीच सेतु का काम किया। उनके लेखन में भारतीय परंपराओं और पश्चिमी आधुनिकता का संतुलन दिखता है। वे अपने साहित्य में मानव-मन की गहराई, अस्तित्व के सवालों, और सामाजिक जटिलताओं को बड़ी संवेदनशीलता से प्रस्तुत करते हैं। उनकी रचनाएँ मानवीय संवेदनाओं और आधुनिक जीवन की उलझनों को उजागर करती हैं। उनके लेखन में अस्तित्ववाद और आत्मान्वेषण का गहरा प्रभाव दिखता है।

निर्मल वर्मा ने भारतीय साहित्य को वैश्विक पहचान दी। उनके अनुवादों ने चेक और यूरोपीय साहित्य को हिंदी पाठकों तक पहुँचाया। उनका साहित्य पाठकों को जीवन और अस्तित्व के गहरे प्रश्नों पर सोचने के लिए प्रेरित करता है। निर्मल वर्मा हिंदी साहित्य के ऐसे कथाकार हैं, जिन्होंने इसे वैश्विक परिप्रेक्ष्य में स्थापित किया।

मुख्य शब्द : वैश्विक परिप्रेक्ष्य, आधुनिकता, अस्तित्ववाद, आत्म-संघर्ष, समन्वय, संवेदनात्मक, अवसाद, हताशा, पराजय बोध, अस्तित्व, अकेलेपन, अलगाव, उदासी, पाश्चात्य।

प्रस्तावना : निर्मल वर्मा को हिंदी साहित्य में वैश्विक कथाकार के रूप में जाना जाता है। उन्होंने अपने साहित्य में न केवल भारतीय समाज की जटिलताओं और जीवन के यथार्थ को उकेरा, बल्कि विश्व साहित्य में आधुनिकता, अस्तित्ववाद और मानव-मन की गहराइयों को भी शामिल किया। उनके लेखन में भारतीय परंपराओं और पश्चिमी आधुनिकता का संतुलित समन्वय देखने को मिलता है, जिससे उनका साहित्य एक विशिष्ट वैश्विक पहचान बनाता है।

निर्मल वर्मा ने कहानियों, उपन्यासों और निबंधों के माध्यम से हिंदी साहित्य को एक नया आयाम दिया। उनकी कहानियाँ मानवीय संवेदनाओं और अस्तित्व के सवालों को गहराई से प्रस्तुत करती हैं। उनका लेखन सरल, लेकिन बेहद प्रभावशाली है। उनके उपन्यासों में मानव-मन की जटिलताओं, आत्म-संघर्ष, और आधुनिक जीवन की उलझनों का चित्रण देखने को मिलता है।

नई कहानी आंदोलन के एक मजबूत स्तंभ निर्मल वर्मा एक सधे साहित्यकार होने के साथ-साथ एक मूर्धन्य पत्रकार, एक कुशल अनुवादक, एक सफल अध्यापक और एक उच्च कोटि के दार्शनिक भी थे। निर्मल वर्मा ने हिंदी साहित्य की पारम्परिक शैली से अलग यथार्थवाद के साथ-साथ अस्तित्ववाद को केंद्र में रखकर अपनी तमाम रचनाएं रची। इनका साहित्य हमें स्वयं से साक्षात्कार कराता हैं। इनकी लेखनी प्रचलित धारणाओं और मान्यताओं से इतर आधुनिक परिवेश में जी रहे इंसान की बेचैनी को नुमायां करती हैं। खामोशी और एकाकीपन निर्मल वर्मा के साहित्य की विशेषता हैं। उन्होंने अपनी कहानियों के किरदार के ज़रिये भीड़ में जी रहे इंसान के अकेलेपन में उपजे अंतर्मन का बहुत खूबसूरती से मनोविश्लेषण किया हैं। साथ ही रोमांस को विषय बनाकर इंसान के एकाकीपन को भी बड़े ही काव्यात्मक ढंग से पेश किया है। उन्होंने अपनी स्मृतियों को आधार बनाते बीते हुए दिन, गुजरे हुए लोग, अपने द्वारा की हुई यात्राओं पर भरपूर लिखा है। अपने लेखन में पहाड़, किताब और बचपन का जिक्र भी जगह-जगह किया है। वह छोटे से छोटे ब्यौरों को भी बड़े कलात्मक ढंग से पेश करते थे।

कथा-साहित्य निर्मल वर्मा ने अज्ञेय की गद्य परम्परा को समृद्ध किया है। वे हिन्दी के उन विरले रचनाकारों में गिने जाते हैं, जिन्होंने अपने निबन्धों, डायरी, पत्रों और यात्रा संस्मरणों के मार्फत एक अद्भुत, आत्मीय और जादुई संसार रचा। अपने लेखन में उन्होंने न केवल मनुष्य के आपसी सम्बन्धों की चीर–फाड़ की, वरन् उसकी सामाजिक, राजनैतिक भूमिका क्या हो, तेजी से बदलते जाते हमारे आधुनिक समय में एक प्राचीन संस्कृति के वाहक के रूप में उसके आदर्श की पीठिका क्या हो, इन सब प्रश्नों का भी सामना किया। उनकी कथा–कहानियों में जैसा खुलापन और वैश्विकता है, वैसा ही डायरी–निबन्धों में शुद्ध भारतीय जीवन दर्शन है। वे इतिहास, स्मृति और आकांक्षा के अनन्य सर्जक रहे हैं। बकौल प्रभाकर श्रोत्रिय 'अपने विचार–गद्य में निर्मल ने भारतीय स्मृति, उसके मानस और ऐसे अभ्यन्तर को समझने की चेष्टा की जिसमें किसी सम्प्रदाय की गन्ध नहीं, बल्कि एक प्रेरक संस्कृति की निरन्तर खोज है, जिसे काल और वहशी आक्रमणों की धुंध ने ढक लिया या क्षत कर दिया है।' आकस्मिक नहीं कि हमारे समय के कथित दो ध्रुवान्तों के दो लेखक मुक्तिबोध और निर्मल वर्मा अंधेरे के शिल्पी रहे। अंधेरे के भीतर ही शायद उन्हें अपनी–अपनी तरह से शोध करना था, जो वक्त की हवाओं में परत–दर–परत जमा था।

निर्मल वर्मा हिन्दी साहित्य दौर के एक प्रमुख लेखक को हिन्दी साहित्य में नई कहानी के प्रथम अन्वेषक के रूप में देखा जाता है। और हिन्दी साहित्य के मशहूर विश्लेषक 'डॉक्टर नामवर सिंह' ने निर्मल वर्मा जी की कहानी 'परिंदे' को हिन्दी साहित्य की पहली नई कहानी मानते हैं। निर्मल वर्मा ही वो पहले लेखक थे जिन्होंने कहानियों का केंद्र सामाजिक स्थितियों से मानसिक स्थितियों की ओर बदला। उनकी कहानियां अक्सर गहराई और संवेदनशीलता के लिए भी जानी जाती है। हिन्दी साहित्य में नई कहानी आंदोलन के प्रमुख ध्वजवाहक निर्मल वर्मा का कहानी में आधुनिकता का बोध लाने वाले कहानीकारों में अग्रणी स्थान है। निर्मल वर्मा भारतीय मनीषा की उस उज्ज्वल परम्परा के प्रतीक-पुरुष हैं, जिनके जीवन में कर्म, चिन्तन और आस्था के बीच कोई फाँक नहीं रह जाती। कला का मर्म जीवन का सत्य बन जाता है और आस्था की चुनौती जीवन की कसौटी। ऐसा मनीषी अपने होने की कीमत देता भी है और माँगता भी। अपने जीवनकाल में गलत समझे जाना उसकी नियति है और उससे बेदाग उबर आना उसका पुरस्कार। निर्मल वर्मा के हिस्से में भी ये दोनों बखूब आये। स्वतन्त्र भारत की आरम्भिक आधी से अधिक सदी निर्मल वर्मा की लेखकीय उपस्थिति से गरिमांकित रही।निर्मल वर्मा हिन्दी के एक ख्यातिनाम कथाकार और पत्रकार रहे हैं। परिंदे से प्रसिद्धि पाने वाले निर्मल वर्मा की कहानियां अभिव्यक्ति और शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ समझी जाती हैं। 'परिंदे' को हिंदी साहित्य का प्रस्थान बिंदु माना जाता हैं।

निर्मल वर्मा की संवेदनात्मक लेखनी पर हिमाचल की पहाड़ी छायाएं दूर तक पहचानी जा सकती हैं। हिन्दी कहानी में आधुनिक-बोध लाने वाले कहानीकारों में निर्मल वर्मा का स्थान अग्रणी है। अन्य साहित्यकारों की तुलना में उन्होंने कम लिखा है परंतु जितना लिखा है उतने से ही वे बहुत ख्याति पाने में सफल हुए हैं। उन्होंने "कहानी की प्रचलित कला में तो संशोधन किया ही, प्रत्यक्ष यथार्थ को भेदकर उसके भीतर पहुंचने का भी प्रयत्न किया है।"

परिंदे में लतिका अपने बीते दिनों की दुखद स्मृतियों को भूलना चाहती हैं, लेकिन इस भूलने की प्रक्रिया में वह उन्हीं चीजों को याद करती है जिसे वह भूलना चाहती हैं। लतिका की दोहरी मनोस्थिति के माध्यम से उन्होंने मानव मन का बखूबी मनोविश्लेषण किया है। उन्होंने पूरब और पश्चिम की संस्कृति के अंतर्द्वंद पर अपने साहित्य में गहन विचार भी किया है। इनकी कहानियां जीवन की अनिश्चिता और निरर्थकता के साथ-साथ जीवन के यथार्थ बोध का भी परिचय कराती है।

निर्मल वर्मा की संवेदनात्मक बुनावट पर हिमांचल की पहाड़ी छायाएं दूर तक पहचानी जा सकती हैं। उन्होंने कम लिखा है परंतु जितना लिखा है उतने से ही वे बहुत ख्याति पाने में सफल हुए हैं। उन्होंने कहानी की प्रचलित कला में तो संशोधन किया ही, प्रत्यक्ष यथार्थ को भेदकर उसके भीतर पहुंचने का भी प्रयत्न किया है। हिन्दी के महान साहित्यकारों में से अज्ञेय और निर्मल वर्मा जैसे कुछ ही साहित्यकार ऐसे रहे हैं जिन्होंने अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर भारतीय और पश्चिम की संस्कृतियों के अंतर्द्वन्द्व पर गहनता एवं व्यापकता से विचार किया है।

निर्मल वर्मा को पढ़ना ऐसे है मानो आपने उन्हें अपनी उंगली थमा दी है, जिसे पकड़कर वह आपको संवेदनाओं की सुदूर, गहराती दुनिया में लिए चले जा रहे हैं, न तो उंगली छुड़ा पाना आसान, न भाग कर लौट पाना, लेकिन कौन अज्ञानी होगा जो उनकी लेखनी के दर्द और सुख के खूबसूरत मायाजाल से बाहर निकलना चाहेगा, उंगली झटककर लौटना चाहेगा!

हिन्दी-कहानी में आधुनिक-बोध लाने वाले कहानीकारों में निर्मल वर्मा का अग्रणी-स्थान है। उन्होंने कम लिखा है परंतु जितना लिखा है उतने से ही वे बहुत ख्याति पाने में सफल हुए हैं। उन्होंने कहानी की प्रचलित कला में तो संशोधन किये ही, प्रत्यक्ष यथार्थ को भेदकर उसके भीतर पहुँचने का भी प्रयत्न किया है। अपनी इन कहानियों को चुनने से पहले मैंने दुबारा पढ़ा था। पढ़ते समय मुझे बार-बार एक अंग्रेज़ी लेख की बात याद आती रही, 'अर्से बाद अपनी पुरानी कहानियाँ पढ़ते हुए गहरा आश्चर्य होता है कि मैंने ही उन्हें कभी लिखा था। बार-बार यह भ्रम होता है कि मैं किसी अजनबी लेखक की कहानियाँ पढ़ रहा हूँ जिसे मैं पहले कभी जानता था। साथ-साथ एक अजीब किस्म का सुखद विस्मय भी होता है कि ये कहानियाँ एक ज़माने में उस व्यक्ति ने लिखी थीं, जो आज मैं हूँ।' उनकी कहानियों में पीढ़ा, यातना, उदासी, अकेलापन, एकांत, त्रासदी, इंतजार, ये सभी शब्द बिखरे पड़े रहते हैं। उनके लिखने में एक लय है, उदासी भरी लय। जिन को पढ़ने से एक अलग किस्म की गहराई और सुकूनका एहसास होता है। उनकी कहानियां पढ़ने से ऐसा लगता है, कि हम खुद से ही बात कर रहे हो। जैसे कि हम कही नीचे दब गए थे और शायद हम उस बात को भूल भी गए थे पर, उन्हें पढ़के लगता है कि हम खुद को ही हाथ पकड़ कर नीचे से ऊपर उठा रहे हो। उनकी कहानियों को पढ़ने से अपने मन में उतरने का और अंतर मन में टटोलने का मौका मिलता है। निर्मल वर्मा जी ने अकेलेपन, अलगाव और उदासी की भावना को कहानी का अहम हिस्सा बना दिया। उनके किरदार अक्सर उदासी और अकेलेपन में डूबे रहते है, इसीलिए उन्हें अकेलेपन का कवि भी बताया जाता है - निर्मल वर्मा "द पोएट ऑफ लॉनलीनेस"।निर्मल वर्मा की कहानियाँ उस शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति को अपना विषय बनाती हैं जो बहुत कुछ आत्मकेंद्रित है। वह समाज से असम्बद्ध होने के साथ ही मानसिक रूप से असहज है। पाश्चात्य जीवन शैली के शहरी मध्यवर्गीय व्यक्तियों के बिगड़ते और बदलते संबंधों को इनकी कहानियों में उकेरा गया है। इनमें एक खास तरह का अवसाद, हताशा, पराजय बोध, अस्तित्व का संकट और उदासी के बादल छाए रहते हैं। एक तरह से अतीत की उदास स्मृतियों के सहारे निर्मल की कहानियाँ अपना सफर तय करती हैं। निर्मल वर्मा अपनी कहानियों में आधुनिक युग की यांत्रिकता और जड़ता के फलस्वरूप टूटते परिवेश और पारिवारिक अनमनेपन के बीच व्यक्ति के अकेलेपन और अजनबीपन को बहुत शिद्दत के साथ दर्शाने वाले रचनाकार हैं। भीड़ के हाहाकार में शमशानी सन्नाटों का एक पूरा संसार निर्मल की कहानियों में नजर आता है। 'धूप का एक टुकड़ा' भीड़ में अकेलेपन की इसी विडंबना का एक बयान है।

उनकी कहानियां पढ़कर हमे यह भी एहसास होता है कि, हर व्यक्ती किसी न किसी से दुखी हैं, हम सबके अपने - अपने दुख है और कोई भी दुख छोटा नहीं होता। इसीलिए हम सबको एक दुसरे के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए।

निर्मल वर्मा जी के लेखन की एक ख़ास बात ये भी है कि, उनके किरदार कभी भी बनावटी नहीं लगते। उनमें एक गहराई होती हैं। वह अक्सर खयालों में डूबे रहते हैं, और खामोश रहते है। गहरे और विचारशील मोनोलॉग उनकी कहानियों की विशेषता है। उन्हें पढ़कर आप एक खास किस्म का ठहराव और सुकून का अनुभव करेंगे। और ख़ामोशी का इतना बेहतरीन उपयोग हिन्दी साहित्य में और कही देखने को नहीं मिलेगा। उनके लेखन की एक ओर खास बात यह है कि उनके किरदारों के नाम नहीं होते। निर्मल वर्मा ने कम लिखा है, जटिल भी लिखा है, परंतु जितना लिखा है उससे ही वे बहुत ख्याति पाये हैं। उन्होंने कहानी की प्रचलित कला में तो संशोधन किया ही, प्रत्यक्ष यथार्थ को भेदकर उसके भीतर पहुंचने का भी प्रयत्न किया है।

किसी भी भाषा में काव्य का वैभव आसानी से स्वीकार किया जाता है लेकिन निर्मल वर्मा अकेले ऐसे साहित्यकार है जिन्होंने ने हिन्दी साहित्य में गद्य का वैभव स्थापित किया है| वर्मा ने अपनी भाषा का निर्माण किया जिसने अपनी संवेदनशीलता, गीतात्मक संवेदनशीलता और बारीकियों के कारण अपनी अलग पहचान बनाई। वे ऐसे ही लेखकों में रहे हैं, जिनके गद्य का जादू आज भी बोलता है।

निर्मल वर्मा अपने रचना कर्म में सृजनात्मकता और बौद्धिक अर्न्तयात्राओं तथा उसके रचनागत सरोकारों और उद्देश्यों का, उसकी लेखकीय आस्थाओं और प्रतिबद्धताओं का प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत करते चलते हैं। वे उन गिने–चुने भारतीय लेखकों में से एक हैं, जिनका लेखन भारतीय परम्परा के निराकरण का पर्याय बन चुका है। चीजों और स्थितियों को खोलने वाली, उनकी चीर-फाड करनेवाली पारदर्शीत वृत्ति उनकी रचनाओं को अलग मुकाम पर खड़ा कर देती है। निर्मल वर्मा का साहित्य स्मृति और कल्पना को अनुभवों के बारीक रेशे से बाँधकर ऐसा माया लोक गढ़ता है, जिसमें एक धीर और लम्बी प्रतीक्षा, उदासी और विस्मय, मृत्यु और भय की लगातार उपस्थिति तथा निरन्तर नष्ट हो रहे मनुष्य की मानसिक विश्रान्ति को एक बड़ा अभिप्राय हासिल होता है।उनकी कहानियों को आज के समय इसीलिए भी ज़रूरी है, क्योंकि आज जो लोग अपने घरों से इतने दूर रह रहे हैं, अपने प्रिय जनों से दूर है, या कई बार साथ रहने पर भी अक्सर लोग खुद को अकेला पाते है, उन्हें ये कहानियां पढ़कर लगता है के अकेलेपन का यह जो भाव है यह सामान्य है। और उनकी कहानियों को

पढ़कर वह न सिर्फ अकेलेपन को अपनाते है बल्कि, उसके लिए सहज भी बनते हैं।हिन्दी साहित्य को पहली बार कोई ऐसा लेखक मिला जो भीड़ में छुपे उस अकेलेपन की आवाज़ बना जो बरसों से अनसुनी थी। लेखक का नाम था निर्मल वर्मा। अकेलेपन के कथाकार के रूप में पहचाने जाने वाले, वर्मा जी के लेखन भ्रम की एक जाल की तरह लगते हैं जो अकेलेपन और उदासी की भावनाओं से हमारा सामना कुछ यूँ करवाते हैं जैसे कि वह हमारे लिए लिख रहे थे। लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि उनकी रचनाओं में एक अजीब सा आनंद छिपा है, जिसकी गवाही वर्मा जी को पढ़ने वाले सभी लोगों देते है जिन्होंने इसे महसूस किया है। उनके कार्यों में स्वयं से बात करने वाले पात्रों द्वारा लंबे मोनोलॉग शामिल हैं। लेकिन इस एकांत और अकेलेपन में उनके लेखन की सुंदरता है जो हमें एकांत से प्यार करने पर मजबूर कर देती है। उनकी लेखन शैली न केवल अद्भुत और अविश्वसनीय थी बल्कि पूरी तरह से नई भी थी।

निर्मल वर्मा की कहानियां अतीतजीवी हैं। अतीत उनकी कहानी की वह एकमात्र शरणगाह है जहां पहुंचकर उनकी आत्मा शरण ही नहीं शान्ति भी पाती थी। और अपने पाठकों को भी वे यही अद्भुत अनुभूति देते हुए उन्हें वर्तमान में जीने के बजाय अतीत-जीवी होने का सुकून और सुविधा देते हैं। यूं तो अक्सर कहानियां स्मृति की होती हैं पर निर्मल वर्मा की कहानियां विशुद्ध स्मृतियों की कहानियां हैं। संवाद की कोई स्थिति यहां बन ही नहीं पाती। वे एक ऐसे कथाकार रहे हैं, जिनसे किसी और की तुलना नहीं की जा सकती पर उनके साथ और बाद की सारी पीढ़ियों को अगर खंगाला जाए तो शायद ही ऐसा कोई रचनाकार हो, जिसने उनसे कुछ न लिया हो..। जैसे कि आजादी के पूर्व के लेखकों में पहले प्रेमचंद से, या फिर बाद वालों ने अज्ञेय से.., पर निर्मल वर्मा ने अपने समकालीन या फिर पूर्ववर्ती किसी से कुछ ग्रहण किया ऐसा नहीं कहा जा सकता। हालांकि बड़बोले लेखकों की तरह उन्होंने अपनी मौलिकता और अप्रभाविकता का दंभ कभी नहीं भरा स्वाभाविक सहृदयता और विनम्रता के साथ अपनी कहानियों की इतनी अच्छी पहचान और विवेचना की दृष्टि कितने लेखकों के पास होती है। यह भी तो यह कह पाने का साहस कितने लोग कर सकते हैं! निर्मल जी की रचनाओं में एक अनाम अव्यक्त दुख को पकड़ने की कोशिश थी, इसीलिए जिसे लोग उनकी कहानी की संवादहीनता कहते हैं, दरअसल वह संवादहीनता न होकर खुद से किया गया संवाद था।अपनी खोज में निरंतर भटकते व्यक्ति की खुद ही से की गई बातचीत है।

कई लोग उन्हें अज्ञेय की रचनाशीलता के निकट कहते हैं पर यह सामंजस्यता भी दोनों के पाश्चात्य साहित्य से अच्छी तरह परिचित होने भर से ही है। वरना अज्ञेय वर्तमान के कथाकार ठहरे और निर्मल अतीत के। इनकी भाषा अलग है, बिम्ब अलग। एक अपने समय के यथार्थ से जूझता है और दूसरा निर्मम पलों के एकाकीपन, असहायता और उदासी से। अतीत के वर्णित दुख की यह छांव ही निर्मल को सबसे अधिक मौलिक बनाती है।

वर्मा स्वयं प्रतिनिधि रूप में नवशिक्षित युवकों के प्रतीक है। हमारा हर युवा पश्चिमी जीवन, सभ्यता, पश्चिमी भौतिकवाद के चकाचौंध से चुम्बकीय ढंग से यूरोप और अमेरिका की तरफ भागता या आकर्षित होता रहा पर प्रत्यक्ष उन देशों पर पहुँचने पर अति बौद्धिकता, अति आधुनिकता, संवेदनाशून्य जीवन शैली और अति उन्मुक्तता से वह पहली बार परेशान हुए। यह उस पर पहला सांस्कृतिक रियेक्शन था। निर्मल वर्मा जैसे आधुनिक मेधा सम्पन्न, संवेदनशील लेखक भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन से बँधा था। वह काल-समय के साथ अपने काल के ठीक था पर नए पुरानी विचारधाराओं के बीच संघर्ष करता हुआ आधुनिक मानव केवल वेदान्त और शुद्धाद्वैतवाद और मधुर भक्ति में जी नहीं सकता।

स्वतंत्र भारत की आरंभिक आधी से अधिक सदी निर्मल वर्मा की लेखकीय उपस्थिति से गरिमांकित रही। अपने लेखन में उन्होंने न केवल मनुष्य के दूसरे मनुष्यों के साथ संबंधों की चीर-फाड़ की, वरन् उसकी सामाजिक, राजनैतिक भूमिका क्या हो, तेजी से बदलते जाते हमारे आधुनिक समय में एक प्राचीन संस्कृति के वाहक के रूप में उसके आदर्शों की पीठिका क्या हो, इन सब प्रश्नों का भी सामना किया। उनके समकालीनों और बाद के रचनाकारों में शायद ही कोई ऐसा हो जिसने निर्मल वर्मा से कुछ न लिया हो, पर खुद उनके ऊपर किसी लेखक की छाप खोजना बहुत मुश्किल है।

साहित्यकार निर्मल वर्मा को पढ़ना ऐसे है मानो आपने उन्हें अपनी उंगली थमा दी है, जिसे पकड़कर वह आपको संवेदनाओं की सुदूर, गहराती दुनिया में लिए चले जा रहे हैं। न तो उंगली छुड़ा पाना आसान, न भाग कर लौट पाना। लेकिन कौन तो मूरख होगा जो निर्मल की लेखनी के दर्द और सुख के खूबसूरत मायाजाल से बाहर निकलना चाहेगा, उंगली झटककर लौटना चाहेगा!

निर्मल वर्मा जी ने कहानी लेखन को बहुत गंभीरता से लिया और अपनी एक सी हस्तकला तैयार की। उनकी कहानियां एक खास बनावट लिए रहती है। निर्मल वर्मा हिन्दी साहित्य के ऐसे चितेरे हैं जिन्हें जिन्होंने भी पढ़ा, वे उनमें डूबते उतराते रहे। उनकी कहानियां, उनके उपन्यास अपनी अनेकानेक पंक्तियों में जैसे कविता गढ़ते लगते हैं। भावनाओं को कलात्मकता से प्रतिबिंबित करने वाले निर्मल वर्मा माहौल, संबंध और प्रेम को अपने मूल रूप में जैसे उकेरते गए, वह साहित्य और लेखन को नई ऊंचाइयों पर ले गए निर्मल वर्मा की कहानियां अक्सर अधूरी लगती हैं, जिसके अंत का अनुमान वह पाठकों पर छोड़ दिया करते थे। निर्मल वर्मा जी ने मुख्यतः अपने कथा -साहित्य में अध्यात्म मूल्य को सर्वोत्तपरि स्थान दिया है। वे हिन्दी के चिन्तनपरक लेखकों में से एक थे जो भारतीय संस्कृति, सभ्यता और उसकी विरासत से जुड़े हुए थे। हिन्दी के महत्त्वपूर्ण लेखकों में से एक थे जिन्होंने हिन्दी लेखन का अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया।

निर्मल वर्मा ने हिंदी साहित्य को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में स्थापित किया। उनकी रचनाएँ मानव जीवन के सार्वभौमिक सवालों और अनुभवों को छूती हैं। वे न केवल हिंदी साहित्य के महान कथाकार हैं, बल्कि वैश्विक साहित्य के एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर भी हैं। उनका लेखन आज भी पाठकों को जीवन और अस्तित्व के गहरे सवालों पर सोचने के लिए प्रेरित करता है।

****

संदर्भ :-
1.निर्मल वर्मा, मेरी प्रिय कहानियाँ, संस्करण, 2014 के आवरण पृष्ठ पर उल्लिखित।

कांगड़ी भाषा का संरक्षण: एक आवश्यक प्रयास

शीतल कुमारी
(शोधार्थी)
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्विद्यालय धर्मशाला
मो. 9015322438 / 9805696385
डॉ.अशोक कुमार
शोध-निर्देशक
हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्विद्यालय धर्मशाला

सार: हिमाचल प्रदेश की प्रमुख भाषाओं में से एक है कांगड़ी भाषा,जो कांगड़ा जिले में व्यापक रूप से बोली जाती है। कांगड़ी भाषा हिमाचल प्रदेश की संस्कृति और परम्पराओं का महत्वपूर्ण हिस्सा है इसमें कई ऐसे पुराने शब्द और मुहावरे हैं जो हिमाचल की संस्कृति को दर्शाते हैं। कांगड़ी भाषा के माध्यम से कांगड़ा जिले की विशिष्ट पहचान और संस्कृति को समझा जा सकता है। कांगड़ी भाषा के संरक्षण के लिए अनेक प्रयास करने होंगे ताकि यह भाषा आने वाली पीढ़ियों के लिए भी संरक्षित रह सके।

बीज शब्द: गौरवपूर्ण, अमूल्य, मानवीय, आकर्षित, सांस्कृतिक, चकाचौंध, मानसिकता, मातृभाषा, मूल्यों।

भूमिका : पहाड़ी हिन्दी के विकास की बात की जाए तो खस अपभ्रंश से हुई। खस अपभ्रंश मुख्यतया तीन भागों में बंटी है। पूर्वी पहाड़ी, केन्द्रीय या मध्यवर्ती पहाड़ी और पश्चिमी पहाड़ी। हिमाचल प्रदेश की जितनी भी बोलियां आती हैं पश्चिमी पहाड़ी के अन्तर्गत आती हैं। जॉर्ज ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया में पश्चिमी पहाड़ी के अन्तर्गत 62 बोलियों का उल्लेख किया था। इसी आधार पर हिमाचल प्रदेश की बोलियां मंडियाली, कांगड़ी, चम्बियाली, सुकेती इत्यादि बोलियां हैं जो हिन्दी की मुख्य बोलियां हैं। हिमाचली भाषा को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने के लिए हिमाचल के साहित्यकार, कवि व लेखक पहाड़ी बोली में ज्यादा से ज्यादा लेखन कार्य कर विशेष योगदान दे सकते हैं। हिमाचली भाषा का इतिहास काफी गौरवपूर्ण रहा है। साथ ही हमारी गौरवपूर्ण सभ्यता, संस्कृति और साहित्य को वर्तमान संदर्भ में कलमबद्ध करने की नितांत आवश्यकता है ताकि आने वाली पीढ़ी अमूल्य धरोहर से वंचित न रह जाए...।

किसी भी राष्ट्र या देश की उन्नति, सभ्यता, संस्कृति और उसके मानवीय विकास को परखने की कसौटी उसकी बोली है। इसके अलावा बोली का महत्त्व इस बात पर निर्भर करता है कि सामाजिक व्यवहार, शिक्षा और साहित्य में उसका क्या महत्त्व है। प्रत्येक भाषा का विकास बोलियों से ही होता है। यहां तक कि पशु-पक्षी अपनी भाव-अभिव्यक्तियों के लिए जिन ध्वनियों का प्रयोग करते हैं, उन्हें भी बोली ही कहते हैं। पुरानी भाषा या बोलियों के नमूने हमें अनेक शिलालेख, ताम्रपत्र, भोजपत्र तथा स्तंभ आदि पर प्राचीनकालीन लिपियों के रूप में मिलते हैं। इसलिए शायद हमारी पहाड़ी भाषाओं का उद्गम वैदिक संस्कृति से ही माना जाता है। हिमाचल के अधिकतर क्षेत्रों में स्थानीय बोलियां प्रचलित हैं। इनमें महासवी, कुल्लवी, कांगड़ी, मंडियाली, किन्नौरी बोलियां प्रमुख हैं।

वर्तमान में हिमाचल में करीब 33 क्षेत्रीय बोलियां बोली जाती हैं। जिनमें से कांगड़ी बोली भी अपना विशेष स्थान रखती है ।ये बोलियां लोक साहित्य, दलांगी साहित्य, लोक गीत, लोक गाथाओं और नैतिक मूल्यों का बेशकीमती खजाना अपने आप में संजोए हुए हैं। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि हमारे हिमाचल में बारह कोस पर बोली बदल जाती है, लेकिन जो हमारे रीति-रिवाज, लोक परंपराएं और लोक संस्कृति है, वह करीब-करीब एक समान ही है। कांगड़ी उत्तर भारत में मुख्य रुप से हिमाचल प्रदेश के कांगड़ी लोगों की भाषा है। मई 2021 से कांगड़ी बोली वर्तमान में यू डी (यूनिवर्सल डिपेंडेंसीज) के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय पटल पर आ गई है इस पटल पर अब तक 10 भाषाएं ही शामिल है जिनमें से कांगड़ी भी एक है। कांगड़ी बोली मुख्यत: कांगड़ा, हमीरपुर, ऊना जिलों तथा चम्बा, मण्डी, पठानकोट, होशियारपुर (पंजाब) तथा उधमपुर (जम्मू और कश्मीर) आदि के कुछ भागों में भी बोली जाती है। पाकिस्तान के पंजाब प्रांत के कुछ भागों में भी सीमित संख्या में कांगड़ी बोलने वाले व्यक्ति हैं। 2021 की जनगणना के अनुसार 1.17 मिलियन से अधिक लोग कांगड़ी बोलते है। अधिकांश भाषाओं बोलियों की तरह कांगड़ी भी अपनी पड़ोसी बोलियों के साथ एक बोली सातत्य बनाती है। कांगड़ी बोली की लिपि टांकरी लिपि है। "कांगड़ी भाषा हिमाचल प्रदेश की संस्कृति का आधार है और इसके संरक्षण के लिए हमें प्रयास करने होंगे।"

कांगड़ी भाषा या बोली के विलुप्त होने के कारण -कोई भी बोली जब विलुप्त हो रही होती है तो उसके कई कारण होते है जिस भाषा का व्याकरण नहीं होता उसे भाषा के रूप में स्वीकार किया ही नहीं जा सकता। आज तक कागड़ी को भाषा का स्थान दिलाने की मात्र कोरी कल्पना ही बनकर रह गई है। संस्कृति की यह विशेषता है कि यह निरंतर, बिना रुके, अविरल धारा की तरह प्रवाहित होती रहती है। भाषा या बोली संस्कृति का एक मुख्य तत्त्व होता है। प्रदेश में कविताएं, ग़ज़लें, कहानियां तथा बहुत सा साहित्य पहाड़ी भाषा में छप रहा है। बहुत से लेखक पहाड़ी लेखन में प्रयासरत हैं। पहाड़ी कवियों और लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से पहाड़ी साहित्य का सिंचन किया है। समाचार पत्रों ने भी इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है। वर्तमान में हिमाचल प्रदेश में कई स्थानीय बोलियां विलुप्त होने के कगार पर हैं। बोलियों के बोलने, सुनने तथा समझने वाले लोग कम हो गए हैं। बहुत से कांगड़ी शब्द लुप्त हो रहे हैं। कांगड़ी बोली के विलुप्त होने के मुख्य निम्न कारण है –

1. कांगड़ी बोली नई पीढ़ी जो पढ़ी लिखी और शिक्षित वर्ग है उनसे दूर होती जा रही है। पुरानी पीढ़ी के लोग गर्व और शान से कांगड़ी जो उनकी मां बोली है उसका उच्चारण किया करते थे लेकिन ठीक उसके विपरीत नई पीढ़ी के युवा पाश्चात्य बोली या भाषाओं की और आकर्षित होते जा रहे हैं।
2. बचपन में अभिभावकों द्वारा कांगड़ी बोली का उच्चारण करने से बच्चों को रोकना और हिंदी या अंग्रेजी में बात करने पर अधिक बल देना।
3. कांगड़ी लोकगीत वर्तमान समय में विलुप्त होने की कगार पर है, इसका एक मुख्य कारण यह है कि नौजवान साथी प्रचलित गीतों को प्राथमिकता दे रहे है हिंदी फिल्मी सिनेमा के गीतों की तरफ नई पीढ़ी के

युवा उन्मुख हो रहे हैं।
4.नई पीढ़ी पाश्चात्य संस्कृति की ओर अधिक अग्रसर हो रही है।
5.कांगडा में अगर कुल औसत की बात की जाए तो यहां गद्दी बोली अधिक बोली जाती है। वर्तमान में जो कांगड़ी या बोली के अंतर्गत आती है लेकिन वर्तमान समय के पीढ़ी के युवा सार्वजनिक स्थानों से गद्दी बोली जो उनकी मां बोली है उसका उच्चारण करने से शर्म व झिझक महसूस करते है। गद्दी या कांगड़ी बोली के पीछे विलुप्त होने का भी मुख्य कारण है।
6. कांगड़ी को साहित्य के क्षेत्र में भी कोई विशेष स्थान प्राप्त नहीं हो पाया है। इसीलिए एक स्थान तक ही सीमित रह गई है।
7.सामाजिक और सरकारी संचार के लिए कांगड़ी का न्यूनतम प्रयोग।
8.शिक्षा के क्षेत्र में कांगड़ी बोलने को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। सरकारी स्कूलों को छोड़कर पब्लिक स्कूलों की ओर लोगों का अधिक झुकाव होना भी कांगड़ी बोली के लुप्त होने का मुख्य कारण है। कांगड़ा के कई स्कूलों में कांगड़ी बोली बोलने पर एक विशेष जुर्माना रखा गया है।
9.स्कूली पाठ एवं विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल न होने के कारण भी बोली विलुप्त होने के कगार पर है
10.शिक्षा स्वास्थ्य जैसी मूल भूत सुविधाओं के अभाव में लोग अपने घरों से पलायन कर रहें हैं परिणामत: अपनी – अपनी भाषाओं को भी भूलते जा रहे हैं।

कांगड़ी भाषा या बोली का संरक्षण के प्रयास :

1. कांगड़ी बोली के अस्तित्व को बिखरने से रोकना है तो यह हम सभी की नैतिक जिम्मेदारी है कि हम अपने बच्चों को हिंदी और अंग्रेजी के अलावा मातृ बोली बोलना भी सिखाएं। अभिभावकों की भी यह नैतिक जिम्मेदारी है कि अपने बच्चों में बचपन से ही पहाड़ी बोली के महत्त्व को बताएं।
2. कांगड़ी भाषा या बोली जनता के सामाजिक – सांस्कृतिक स्थिति एवम दृष्टि का विश्लेषण उनकी मातृभाषा में करना चाहिए जिससे की उसके सभी पक्षों के यथावत सुधार हो सके।
3. भाषा को संगीत, साहित्य, सिनेमा, टीवी शो आदि के माध्यम से भी बढावा दिया जा सकता है जहां इसे लंबे समय तक सफलतापूर्ण संरक्षित किया जा सकता है और इसे अगली पीढ़ी को और भी सुविधाजनक तरीके से पारित किया जा सकता है।
4. अलिखित स्तर से लिखित व रचनात्मक स्तर तक उठाने का सार्थक प्रयास किया जाना चाहिए।
5. नई शिक्षा नीति के तहत कांगड़ा के प्राथमिक स्कूलों में सप्ताह में कोई एक दिन निर्धारित होना चाहिए जिसमें विद्यार्थी अपनी मातृ भाषा में बात कर सके,उसे समझने और जानने का मौका मिल सके।
6. दर भाषा के प्रभाव से विलुप्त होने की कगार पर खड़ी कांगड़ी बोली को मुख्य धारा से जोड़ने व नवीन तकनीक से जोड़ने का प्रयास किया जाना चाहिए।
7. कांगड़ी भाषा जनता के सामाजिक – सांस्कृतिक स्थिति एवम दृष्टि का विशेषण उनकी मातृभाषा में करना चाहिए जिससे की उसके सभी पक्ष में यथावत सुधार हो सके।
8. बड़े पैमाने पर क्षेत्रीय मेले और समारोह होने चाहिए जहां लोक-गीतों वाद -विवादो, कहानियों आदि की मदद से अपने सांस्कृतिक और पारंपरिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व कर सकें।
9. बड़े सांस्कृतिक मंचों पर विभिन्न सार्वजनिक प्रचार कार्यों का प्रदर्शन करने के साथ-साथ कांगड़ी थीम बाली पार्टियों का आयोजन करके युवा पीढ़ी और बच्चों को कांगड़ी बोली सिखाई जा सकती है।
10. अधिक प्रभावित तरीके से बोली को बोलने और सफलतापूर्वक संरक्षित करने में मदद के लिए प्रसिद्ध हस्तियों से भी संपर्क किया जा सकता है।
11. वर्तमान संदर्भ में इंटरनेट का प्रचलन बहुत बढ़ गया है युवा वर्ग अपनी स्थानीय बोली में ब्लॉग सीख कर भी विश्व ग्राम की परिकल्पना को साकार कर सकता है।
12.अपने बच्चों को संस्कार का बीज अपनी स्थानीय बोली को जीवित रख कर बो सकते हैं, जिससे न केवल बच्चों में लोक संस्कृति, लोक साहित्य व इसके इतिहास में रुचि पैदा होगी, साथ ही उनका नैतिक और बौद्धिक विकास भी होगा।
13.हिमाचल प्रदेश का भाषा एवं संस्कृति विभाग व कला संस्कृति एवं भाषा आकादमी विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से लोक संस्कृति, साहित्य, कला व बोलियों के संरक्षण में अहम भूमिका निभा रहे हैं।

सारांश : अतः जब भी किसी भाषा या बोली की बात होती है तो भारतेंदु का यह कथन सार्वभौमिक रूप से सत्य को प्रमाणित करता हुआ प्रतीत होता है " निज भाषा उन्नति आहै सब उन्नति को मूल , बिन निज भाषा ज्ञान के , मिटे न हिय के सूल ।" कांगड़ी बोली के संदर्भ में भी यह सर्वविदित है कि अपनी बोली के प्रति लगाव लोगों को होना चाहिए। जिससे उनकी बोली का विकास हो सके । आधुनिकता की चकाचौंध भी उनकी मानसिकता व मूल्यों को बदल नहीं पाएगी। युवा पीढ़ी मां बोली, गांव की मीठी बोली को अपना कर अपने जीवन मूल्यों को समझे और अपनी युवा सोच से देश के नवनिर्माण में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करे। यदि हम आज नहीं संभले तो पहाड़ी बोली के अस्तित्व को तलाशते नजर आएंगे कि हमारे पूर्वज किस बोली में अपने मनोभाव को व्यक्त करते थे। तब शायद बोली के इस मूल रूप को समझने वाले कोई न हो, इसलिए प्रत्येक जिला की बोलियों को सहज कर रखने की नितांत आवश्यकता है। मेरा यह मानना है कि युवाशक्ति ही ऐसी शक्ति है जो समाज की धारा को बदल सकती है।

****

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. हिमाचल कला,संस्कृति और भाषा अकादमी, त्रैमासिक पत्रिका सोमसी, संयुक्त (163,64): डॉ० पीयूष गुलेरी तथा डॉ वशीराम शर्मा।
2. कांगड़ी भाषा का व्याकरण : डॉ० शिवनारायण शर्मा , प्रकाशक: कांगड़ा भाषा संग्रहालय, प्रथम संस्करण 2015।
3. पहाड़ी भाषा व्याकरण : मौलू रामठाकुर,हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, क्लिफ एण्ड स्टेट शिमला , प्रकाशन वर्ष 2008।
4. हिमाचल की सांस्कृतिक धरोहर : डॉ० प्रत्यूष गुलेरी,प्रकाशक शब्द सेतु, प्रथम संस्करण 2005।
5. https://www.amarujala.com
6. hppts://www.divyahimachal.com
7. https://www.hmoob.in/wiki/kangri language

अमृत राय के कथा-साहित्य में जीवन-दर्शन

डॉ. अनुराधा शुक्ला
पता - हनुमान मंदिर चौक बिजुरी
वार्ड नं 10, जिला अनूपपुर (मध्य प्रदेश) मो.- 7974612940

सारांश :पिता प्रेमचन्द तथा माता शिवरानी देवी की कोख से 15 अगस्त 1921 ई. को एक ऐसे बालक ने जन्म लिया, जिसका व्यक्तित्व निराला था। माता-पिता द्वारा रखा गया नाम 'अमृत' उस बालक के व्यक्तित्व का परिचायक बन गया। उनकी वाणी से अमृत टपकता था। गिरिजा कुमार माथुर ने के व्यक्तित्व का सही निरूपण किया है - "अमृतराय एक तलदर्शी निर्मल जल-सा, खुले व्यक्तित्व का आलोक-विस्तार है। गोरा चिट्टा, अकलंक, छरहरा साफ आइने-सा शरीर वैसी ही मुक्त ठहाकेदार, हवाओं तक को गुंजाती हैंसी, वैसा ही निर्व्याज व्यवहार, एक पारदर्शी मन, मर्मशील, आत्मदान भरा आश्वस्ति भाव, वक्त पर तेज-तर्रार प्रतिक्रियाओं का मिजाज भी, अन्तर का भरा ठहराव भी। भारत की प्राचीनतम नगरी ये प्रयागराज गंगा-जमुना जैसी विशाल पावन नदियों का संगम जैसी संस्कृति की अनेक धाराएँ यहाँ आकर मिल गई है. उसी तरह की सांस्कृतिक परम्परा और आधुनिकता, सामाजिकता और वैयक्तिकता, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का मिलन बिन्दु है। - अमृतराय का व्यक्तित्व ।" उनका प्रारम्भिक जीवन काफी संघर्षपूर्ण रहा। 15 वर्ष की आयु में ही पिता की छत्र-छाया उठ गई। समस्याओं से वीरतापूर्वक जूझते हुए उन्होंने सन् 1942 ई. में अंग्रेजी विषय से एम.ए. किया। इसी समय वे बनारस जाकर कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने । सन् 1943 ई. में 'प्रगतिशील लेखक संघ के संगठन में अपनी भागेदारी निभाकर 'प्रगतिशीलता में अपनी आस्था व्यक्त की। 29 अप्रैल, सन् 1945 ई. को विजातीय सुधा चौहान से विवाह एक प्रगतिशील और साहसी कदम था। राजनीति में हिस्सा लेने के कारण भारतीय सुरक्षा कानून के अन्तर्गत जेल -यात्रा भी की। एक किशोर पुत्र के निधन का दारुण शोक भी उन्हें सहना और झेलना पड़ा, परन्तु उन्होंने अपने जीवन-कर्म में शिथिलता न आने दी। अमृतराय ने जीवनयापन के लिए कोई नौकरीनहीं की। अपनी इच्छानुसार लेखन कार्य संपादन एवं प्रकाशन को जीविका का आधार बनाया। उन्होंने अनेक कालजयी कृतियों का सृजन किया, जिनके लिए नौकरी उन्हें अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। भारत के लेखक प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने अनेक बार विदेश यात्राएँ कीं। उन्हें जीवन पर्यन्त इस बात का दुःख रहा कि उन्हें लोग प्रेमचन्द के पुत्र के रूप में जानते हैं, एक महान् पिता के एक महान लेखक-पुत्र के रूप में नहीं। 14 अगस्त, सन् 1996 ई. को वह इहलोक छोड़कर परलोक सिधार गए।

हिन्दी साहित्य की कोई भी ऐसी विधा नहीं थी, जिस पर उन्होंने न लिखा हो। क्या उपन्यास, क्या कहानी, क्या नाटक, क्या निबन्ध, क्या यात्रा-वृतान्त, क्या संस्मरण, क्या समीक्षा, क्या जीवनी, क्या रिपोर्ताज, क्या रेखाचित्र कोई भी उनकी लेखनी के संस्पर्श से न बच सका। इतना ही नहीं, उन्होंने अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया। हंस' और 'नई कहानियाँ' नामक पत्रिकाओं के संपादन में वे किसी से पीछे नहीं रहे। तीन -चार कविताएँ भी लिखीं। "हिन्दी -उर्दू समस्या'; पर शोध कार्य भी किया। उन्होंने नये लेखकों को प्रोत्साहित तथा पुरस्कृत भी किया। अनेक लेखक एवं आलोचकों ने उन्हें एक विशेष विधा की परिधि में सीमित करने का प्रयास किया है, जो अनुचित है। सभी विधाओं पर उनकी पकड़ अच्छी रही है। साहित्य के क्षेत्र में उनका योगदान अप्रतिम है। उन्होंने समाज को निकट से देखा, समझा, जाँचा और परखा है। उनकी रचनाओं में उनकी रचनाधर्मिता स्पष्ट झलकती है। बड़े दुःख का विषय है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में वह स्थान न मिल सका, जिसके वे अधिकारी थे।

साहित्यकार समाज में जन्म लेता है। उसी में वह पलता एवं बढ़ता है। अतः समाज एवं तत्कालीन परिवेश का उस पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। उसका साहित्य भी समाज सापेक्ष होता है। अमृतराय साहित्यिक दायित्व के सन्दर्भ में परिवेश की व्याख्या इस प्रकार करते हैं - "हम परिवेश को ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थितियों और गतिविधियों से निर्मित और पुष्ट एक प्रकार का सम्पूर्ण वातावरण कह सकते हैं, जिसके अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति या समाज किसी समय अपने को है।" पाता है ।" परिवेश के प्रभाव की महत्ता के विषय में उनका कहना है कि, "परिवेश से पूर्ण मुक्ति कैवल्य या निर्वाण की स्थिति में ही संभव है।"

अमृतराय के उपन्यास अपने समय और अपने समाज का प्रामाणिक चित्र उपस्थित करते हैं। 'बीज' से लेकर 'धुआँ तक की उनकी उपन्यास दृष्टि सामाजिक यथार्थ को दृष्टिपथ में रखकर उसमें चलने वाली सम-सामयिक चेतना को अनेक कोणों से और अनेक पहलुओं से उभारती और प्रस्तुत करती है। आलोचकों ने उनके उपन्यासों पर राजनीतिक अपवाद का आरोप लगाया है, जो अनुचित है। 'बीज' और 'हाथी के दाँत' में राजनीति ज्यादा है। 'धुआँ' में तो राजनीति का संस्पर्श है, जबकि 'नागफनी का देश', 'जंगल', 'भटियाली', 'सुख - दुख' में राजनीति तो बिलकुल नहीं है। 'सुख-दुख', 'भटियाली' और 'जंगल' उपन्यासों के सन्दर्भ में मधुरेश जी का कथन है "इन उपन्यासों में ऐसा कुछ नहीं है, जिसे गहरी मार्क्सवादी समझ के अनुशासन का परिणाम कहा जा सके।"

बीज शब्द: भटियाली, नागफनी, वैकल्य, दृष्टिपथ, छलहरा, बीज,अपवाद, आश्वस्ति ।

शोध विस्तार:

अमृतराय ने एक शिक्षित एवं साहित्यिक परिवार में जन्म लिया। साहित्यिक परिवेश में ही बचपन और किशोरावस्था के अमूल्य वर्ष बिताए। स्वभावतः इनका उनके लेखकीय स्वरूप के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुतः प्रारम्भ से घर में माता-पिता को पढ़ते -लिखते पाया, साहित्यिक गोष्ठियाँ देखी। इन सबने सम्मिलित रूप से उनमें साहित्य प्रेम जाग्रत किया, साहित्य के अध्ययन की रुचि उत्पन्न की और आगे चलकर लिखने की प्रेरणा दी। प्रेमचंद को सादगी अत्यधिक पसन्द थी। जहाँ तक सम्भव हो अपना कार्य स्वयं करते थे। उनके साहित्य में भी उनकी इस सादगी की स्पष्ट झलक है। साधारण जीवन और उच्च विचारों वाले पिता के सिद्धान्त को अमृतराय ने अपने जीवन में पूर्णतया अपना लिया था। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं कहा है- "मेरी लाइफ स्टाइल पर एक सादगी और एक गांधीवादी असर था। मेयो होस्टल का मेरा समय गाँधीवादी था, कहीं इसके पीछे भी उस आदमी (प्रेमचंद) का व्यक्तित्व होगा।"

जीवन की इस गांधीवादी सरलता, सादगी एवं उदारता की छाप अमृतराय के साहित्य के मूल में सर्वत्र ही मिलती है। प्रेमचंद सदैव ही जनता का हित चाहते थे। उनका दुःख दारिद्रय दूर हो, वे सुशिक्षित हों, खुश रहें, यही उनकी हार्दिक कामना थी। वे ये मानते थे कि साहित्य को

उसका अस्त्र बनना चाहिए। दूसरे शब्दों में वे साहित्य को सोद्देश्य मानते थे। उनकी इस भावना ने अमृतराय को भी सोद्देश्य साहित्य रचना की प्रेरणा दी। इस सन्दर्भ में अमृतराय का कथन है कि, "उनका साहित्य भी सोद्देश्य है और मैं अपने साहित्य को सोद्देश्य मानता हूँ।" यदि अमृतराय के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टि डालें तो सोद्देश्यता की कसौटी पर वह पूर्णतः खरा उतरेगा। समाज की कुरीतियों को देखकर उनके मन में उसे दूर करने की चेतना जाग्रत होती है। फिर वे कहीं देखकर उनके सीधे-सीधे जैसे 'बीज' में और कहीं व्यंग्य से जैसे जंगल और हाथी के दाँत में इस उद्देश्य की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं। प्रेमचंद के समान अमृतराय भी कला के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते।

जहाँ तक विचारधारा का प्रश्न है प्रेमचंद गांधीवाद के रास्ते समाजवादी चेतना तक पहुंचे थे, क्योंकि लोक-मंगल की कसौटी पर वे हर चीज को परखते थे। वे एक समाजवादी लेखक थे। उनका साहित्य मानवतावादी साहित्य है। अमृतराय के मानवतावादी साहित्य के सृजन की प्रेरणा के मूल में प्रेमचंद का यह दर्शन प्रमुख भूमिका निभाता है। यद्यपि साहित्यिक क्षेत्र में अधिक प्रभाव ले सकने की आयु के पूर्व ही उनका देहान्त हो गया था। फिर भी 15-16 वर्ष के किशोर मन पर साहित्यिक पिता की पर्याप्त छाप पड़ चुकी थी। पिता के साथ अमृतराय की माता भी साहित्य सेविका थीं। वे सदैव ही कुछ पढ़ती रहती थीं। उन्होंने कुछ कहानियाँ तथा प्रेमचंद के जीवन पर एक पुस्तक भी लिखी है। अमृतराय के रचनाकार मानस के निर्माण में उनकी माता का भी पर्याप्त हाथ रहा।

शिवरानी देवी एवं प्रेमचंद दोनों ही स्वाधीनता आन्दोलन के सक्रिय कार्य कर्ता थे। लेख, कथा, उपन्यास, नाटक आदि लिखकर हर सम्भव उपाय द्वारा प्रेमचंद ने घर-घर में स्वाधीनता की लहर फैलाई। माता शिवरानी देवी तो कपड़े की दुकान पर धरना देती हुई पकड़ी भी गई थीं तथा कुछ महीने कारावास रह कर आई थीं। इस प्रकार अमृतराय को प्रारम्भ से घर में स्वाधीनता आन्दोलन का एक परिवेश मिला। पिता की मित्र मंडली में भी नित्य वही चर्चाएँ सुनने को मिलती रहीं। इन सबका भरपूर प्रभाव हम 'बीज' उपन्यास में देखते हैं। उनके स्वयं के अनुसार स्वाधीनता आन्दोलन के व्यापक परिवेश का उन पर भी अन्य पढ़े लिखे समझदार लोगों के समान ही प्रभाव पड़ा।

नैतिक मूल्यों की स्थापना में भी अमृतराय ने प्रेमचंद के आदर्शों से प्रभाव ग्रहण किया था। यद्यपि अमृतराय फायड से भी प्रभावित थे जिसने यौन नैतिकता को अपेक्षाकृत अधिक खुला एवं स्वाभाविक रूप दिया है यद्यपि उच्छृंखलता को न प्रेमचंद उचित मानते थे न अमृतराय इसी कारण प्रेमचंद के समान अमृतराय ने प्रेम के आत्मिक पक्ष की उसके मांसल पक्ष से अधिक चर्चा की हैं। उनके समग्र साहित्य का अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है कि अमृतराय ने न केवल प्रेमचंद के चारित्रिक गुणों एवं उच्चादर्शों से अपितु उनकी रचनाओं से भी भरपूर प्रेरणा प्राप्त की है।

पूँजीपति तथा जमींदार अधिकाधिक सम्पन्न होते जा रहे हैं। इसके ठीक विपरीत दूसरी ओर उनके सताए गए कृषक एवं श्रमिक हैं जिन्हें दो समय की रोटी भी कठिनाई से प्राप्त होती है। इन्हीं का रक्त चूसकर पूँजीपतियों तथा जमींदारों ने अपना काला धन एकत्र किया है। इन सब अत्याचारों से दगा होकर अमृतराय ने अपनी रचनाओं में उनकी दुर्दशा का वर्णन किया एवं उसे दूर करने के उपाय बताने का भी प्रयत्न किया है। वे यह चाहते हैं कि उनके साहित्य से समाज की आँखें खुल सकें, उन्हें यह विदित हो जाए कि जनता पर किस सीमा तक अत्याचार हो रहे हैं। अमृतराय के लगभग पूरे साहित्य को हम शोषण पर आधारित साहित्य कह सकते हैं। उनके स्वयं के अनुसार ये जो आर्थिक शोषण पर आधारित समाज है. इसके भीतर से और जो शाखाएँ फूटती हैं- यह मेरे साहित्य में काफी आया है।" शोषण के साथ ही वर्ग संघर्ष की भावना ने भी इन्हें बहुत अधिक प्रेरणा दी। शोषक वर्ग का शोषित पर अत्याचार देखकर ये क्षुब्ध हो गए थे। उनके कथा साहित्य में यह बौखलाहट एवं तदज्जन्य वर्ग चेतना भी अपरिमित है।

अमृतराय की साहित्यिक प्रेरणा में नारी की दयनीय स्थिति का भी विशेष स्थान है। वे यह मानते हैं कि वर्तमान काल में नारी पूज्य कम भोग्या अधिक समझी जाती है। वह पुरुषों के हाथ की कठपुतली मात्र हैं। शरीर से अधिक शक्तिशाली तथा जीविका कमाने वाली होने के कारण उसने स्त्री को सदैव दासी समझा। पुरुष की शारीरिक एवं मानसिक सन्तुष्टि के लिए उसे श्रृंगार एवं सेवा से विभूषित रहना आवश्यक बताया गया उसके सन्तान की जन्मदात्री होकर भी वह वास्तविक अर्थों में उसकी सहधर्मिणी न बनकर केवल अंकशाविनी ही बनी रही नारी जागरण और नारी शिक्षा तथा अनेक आन्दोलनों द्वारा सुधारवादियों ने उसकी दशा सुधारने के प्रयत्न किए किन्तु अपवाद स्वरूप ही आदर्श स्थिति के. दर्शन होते हैं। अन्यथा अधिकांश शिक्षित एवं व्यवसायी महिलाओं की स्थिति भी शोचनीय है। अनमेल विवाह, अशिक्षा, दहेज एवं पर्दा प्रथा, विधवाओं की उपेक्षित स्थिति, वेश्या प्रथा आदि कुरीतियों ने अमृतराय से धुआँ, बीज, हाथी के दाँत, जंगल, नागफनी का देश एक साँवली लड़की आदि की रचना करवाई। अछूतोद्धार, पिछड़े वर्ग के प्रति सहानुभूति अस्पृश्यता उन्मूलन आन्दोलनों से अमृतराय के साहित्यकार को उनके हितार्थ लिखने के लिए असीम प्रेरणा मिली। 'बीज' उपन्यास में उषा हरिजनों की बस्ती में जाकर रात्रि पाठशाला चलाती है। उनकी हड़ताल में सक्रिय भाग लेकर नेता बन सबसे आगे जा घायल तक हो जाती है। चमार की औलाद, जाँगर चोर आदि कहानियाँ भी इसी भावना पर आधारित हैं।"

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने भी अमृतराय को अनेक कथावस्तुएँ प्रदान कीं। साम्यवादी आन्दोलनों, रूस की प्रदर्शनी, फिल्म आदि से 'बीज' उपन्यास भरा हुआ है। सत्य, उषा, वीरेन्द्र, प्रफुल्ल बाबू आदि ने तत्कालीन परिस्थितियों में मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार सक्रिय भाग लिया। उसके लिए वे जेल गए। उन्होंने सर्वहारा के दुःखों को दूर करने के लिए भी यथाशक्ति प्रयत्न किए। उनकी अन्य रचनाओं में भी इसकी पर्याप्त छाप मिलती है। अमृतराय के रचनाकाल तक फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को स्वस्थ दृष्टिकोण दे चुका था। और क्षुधा के समान ही काम को नैसर्गिक आवश्यकता मान चुका था। अमृतराय फ्रायड को एक मनीषी मानते हैं। उसने संसार के सामने पूरी नयी दुनिया ही खोल कर रख दी। अतः अब उन सम्बन्धों के बारे में बात करने में संकोच का अनुभव नहीं किया जाता है। अपने साहित्य में आयी यौन नैतिकता के खुलेपन का श्रेय वे युग को ही देते हैं।

अमृतराय के कथा साहित्य में राजनीतिक परिवेश का भरपूर प्रभाव 'हमें दृष्टिगत होता है, 'बीज' में इसमें तत्कालीन राजनीतिक परिवेश का विस्तृत निरूपण हुआ है। इसी समय विदेशी वस्तुओं का बायकाट हुआ। दुकानों पर धरना दिया गया जिसके कारण नित्य प्रति धर पकड़ होती थी। इसका वर्णन अमृतराय की 'तिरंगे कफन' कहानी में है। इसी प्रकार सन् 1943 के बंगाल के अकाल के भीषण परिणामों का भी इन्होंने अपने साहित्य में पर्याप्त चित्रण किया है। 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। देश किस प्रकार इस स्वतन्त्रता का हर्षोल्लास से स्वागत करने में मग्न था, जनता के मन में क्या-क्या आशाएँ थीं इन सब का चित्रण भी हम उनके 'बीज' उपन्यास एवं कुछ कहानियों में पाते हैं। इस स्वतंत्रता के साथ ही साथ देश का विभाजन हुआ। इसने

शरणार्थी समस्या को जन्म दिया, दोनों देशों की स्त्रियों पर अनेक पाशविक अत्याचार किए गए। देश साम्प्रदायिकता की ज्वाला में जल उठा। इन सब का चित्रण 'बीज', 'धुआँ, व्यथा का सरगम' आदि में किया गया है।

इसी प्रकार कांग्रेस शासन की अनीति दुर्व्यवहार, नेताओं का अनावश्यक शोषक रूप, अवसरवाद, घूसखोरी, इन सब ने मिलकर अमृतराय को भी समस्त बुद्धिजीवियों के समान यह सोचने पर विवश किया कि कहीं कुछ नहीं हुआ, नहीं तो आजादी की शक्ल ऐसी नहीं होती। इन सब परिस्थितियों का अमृतराय पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उनके मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार "जब तक आर्थिक शोषण से मुक्ति नहीं मिलती जनता की स्थिति में सुधार सम्भव नहीं क्योंकि अर्थ ही सबके मूल में विद्यमान है उनके प्रथम उपन्यास 'बीज' की पृष्ठभूमि यहाँ की आर्थिक समस्या है। 'नागफनी का देश उपन्यास में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की खोखली आर्थिक स्थिति का मार्मिक वर्णन है।" 'हाथी के दाँत' में पूँजीवादियों का चित्रण किया गया है। अमृतराय के नवीनतम उपन्यास 'धुआँ में स्वतंत्रता के पश्चात् की गरीबी का वर्णन है। इसी प्रकार उनकी अनेक कहानियों पर भी उस समय की आर्थिक स्थिति का प्रभाव परिलक्षित होता है।

समाजवादी धारा के अनुसार, अमृतराय अपने साहित्य द्वारा प्रगतिवादी शक्तियों को प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर विजयी दिखलाकर समाजवादी जीवन की स्थापना करते हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन से प्रेरित होकर अमृतराय ने अपने साहित्य में शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई है। इनका साहित्य समाज एवं साहित्य को एक दूसरे का पूरक मानकर लिखा गया है। अतः कोरी कलावादिता के विरुद्ध है। मार्क्सवादी प्रभाव के कारण शोषण के हर रूप का उसमें चित्रण किया गया है। उसे दूर करने के लिए ठोस उपाय भी सुझाए गए हैं। इनके साहित्य में समष्टि हित समर्थन की भावना निहित है, साम्प्रदायिक वर्ग भेद को मिटाने के लिए वे प्रयत्नशील है। अपने सिद्धान्तों के समर्थन में अपने रूप बन्ध में अमृतराय ने परिवर्तन एवं प्रयोग किए हैं। इस प्रकार अमृतराय का साहित्य प्रगतिवाद की प्रेरणा से उसी की पुष्टि के निमित हुआ है।'

अमृतराय ने साहित्यकारों के संसर्ग में अपने जीवन के प्रारम्भिक दिन व्यतीत किए हैं, उन अनुभवों की गहरी छाप उनके साहित्य में है। पिता प्रेमचंद से उन्हें मानवतावादी रचना की प्रेरणा मिली। शिक्षा समाप्त होने पर अपनी माता की इच्छा के विरुद्ध अमृतराय ने अन्तर्जातीय विवाह किया। इस विवाह ने उनकी माता को बहुत अधिक रुष्ट किया। अमृतराय माता-पिता की कनिष्ठ सन्तान होने के कारण घर में सबको विशेष प्रिय थे। किन्तु विवाहोपरान्त जब उन्हें अपने और पत्नी के प्रति माता की रोज-रोज नाराजगी और क्षोभ का सामना करना पड़ा तो वे क्षुब्ध हो उठे। उनकी कहानी 'आह्वान' तथा उपन्यास 'बीज' में इसी टीस की झलक मिलती है। मार्क्सवाद से भी वे बहुत अधिक प्रभावित थे. उनका साहित्य इसकी प्रतिध्वनि है।

इसी प्रकार जीवन की एक दुर्घटना ने उन्हें बुरी तरह प्रभावित किया था। वह है- 18 वर्ष की अल्पायु में उनके छोटे बेटे की रक्त कैंसर से होने वाली अकाल मृत्यु । सुख-दुख उपन्यास इसी दुःख से अभिभूत होकर लिखी गई करुण गाथा है। 'चित्रा फलक' भी पुत्र वियोग की कहानी है। इन दोनों में किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर, पुत्र शोक के सद्योपरान्त लिखे होने के कारण दुःख से तप्त हृदय की व्यक्तिगत गाथा है। अमृतराय ने अपने कथात्मक अनुभवों के आधार पर लिखा है "उम्र पकने के साथ जीवन के अनुभवों का कोष जो समृद्धतर होता चलता कि है, उससे जरूर समझ में गहराई आती होगी, संवेदना भी कदाचित् कुछ अधिक परिष्कृत होती होगी, जो सब अपने रहस्यमय ढंग से कहानी के अन्दर उतर आता होगा।

****

संदर्भ :-

1. अमित राय कथा-साहित्य, पृष्ठ ११, डॉ. कृष्णा माहेश्वरी।
2. प्रेमचंद की प्रासंगिकता, पृष्ठ १२४, अमृतराय।
3. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१५, डॉ मनहर गोपाल भार्गव।
4. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१५, डॉ. मनहर गोपाल भार्गव।
5. विचारधारा और साहित्य, पृष्ठ ५८, अमृतराय।
6. अमृत राय का कथा-साहित्य,पृष्ठ १४, डॉ. कृष्णा माहेश्वरी।
7. अमित राय का कथा-साहित्य, पृष्ठ १५, डॉ कृष्णा माहेश्वरी।
8. सरगम, पृष्ठ १५८, अमृतराय
9. अमृतराय का कथा-साहित्य, पृष्ठ १८, डॉ कृष्णा माहेश्वरी।
10. माया - सितंबर १९७६, पृष्ठ ९१।
11. माया - सितंबर १९७६, पृष्ठ ९१।

मंज़ूर एहतेशाम की कहानियों में मध्यवर्गीय समाज में पारिवारिक विघटन

शमीम पी
शोधार्थी/सहायक आचार्य
हिंदी विभाग, यूनिवर्सिटी कॉलेज तिरुवनंतपुरम, केरल – 695304 मो: 7356108164

परिवार मानव समाज की प्राचीनतम एवं महत्वपूर्ण संस्था है। परिवार सामाजिक जीवन की मूलभूत इकाई है। आज पारिवारिक संबंधों में अलगाव या बिखराव परिलक्षित होता है। आज परिवार, संयुक्त परिवार से टूटकर पति-पत्नी व बच्चों तक ही सीमित रह गया है। उसमें माता-पिता, वृद्धों व भाई-बहनों के लिए कोई स्थान नहीं रहा है। आज प्रत्येक व्यक्ति आज इतना व्यस्त हो गया है कि वह स्वतंत्र रहना चाहता है। परंपरागत पारिवारिक मूल्यों में विघटन आने का एक कारण व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना है अर्थात आज का व्यक्ति पारिवारिक संबंधों से दूर रहना चाहता है। आधुनिक युग में आज हमारा समाज राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जड़ों से इतना जकड गया है, भौतिक सुखों की ओर भागने वाली हमारी मनोवृति इतनी तुच्छ हो चुकी है और इन सब कारणों से हमारे पारिवारिक संबंधों में जो तनाव आ गया है, उसने एक गंभीर सामाजिक सांस्कृतिक संकट का रूप ले लिया है। हमारी आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई है कि यांत्रिक सभ्यता के दबाव ने हमारे तमाम नैतिक मूल्यों को तहस-नहस कर दिया है। शहरीकरण की दौड़, आर्थिक अभाव, बेरोजगारी, समय की कमी, ने पति-पत्नी के मध्य आपसी प्रेम, विश्वास एवं सहयोग की भावना पर भी प्रहार किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि परिवार निरंतर विघटन की ओर प्रवृत्त हो रहे है। संयुक्त परिवार एकल परिवार में परिणत हो रहे हैं, क्योंकि बच्चों पर मां-बाप का अनुशासन अथवा नियंत्रण नहीं रह गया है।

मंज़ूर एहतेशाम जी ने अपनी कहानियों में मध्यवर्गीय पारिवारिक संबंधों में आ रहे बिखराव या अलगाव को दिखाया है। वर्तमान युग ने अनेक जीवन मूल्यों के विघटन के बाद जो एक नया मूल्य दिया है, वह है संबंधहीनता। इस संबंधहीनता में आधुनिक युग का जटिल व भौतिक जीवन केंद्रित है। इन स्थितियों में व्यक्ति निरंतर अकेला रहता है। यह संबंध चाहे पति-पत्नी के हों मां-बेटीया भाई-बहन अथवा मानव-मानव का। वर्तमान व्यवस्था ने भी व्यक्ति को इतना तोड दिया है कि परिवार में बिखराव उत्पन्न हो गया है।

'पुल-पुख्ता' कहानी में पुल के टूटने पर परिवार की स्त्रियां सुरक्षित स्थान पर भेज दी जाती है, जबकि पुरुष वहीं रह जाते हैं। नायक के मन में उठने वाले विचार रिश्तो की कमजोरियों की ओर प्रकाश डालते हैं- "मेरी बीवी तो ठीक है शायद हुए अभी छ: महीने हि हुए हैं, लेकिन भाभी? अम्मा? क्या पचास साल साथ रहने के बाद आदमी को इस तरह अकेले छोड़ कर जाया जा सकता है? अम्मा यूँ अब्बा को छोड़कर जा सकती है? और भाभी? रिश्ता, खून यह सब उसे पुल से कमजोर है, जो सालों से हमारे पीछे पानी को रोके खड़ा है? क्या हम तीनों भाई भी सिर्फ अब्बा की मोहब्बत में ही यहां रुके हैं'?[1] पारिवारिक संबंधों में यही बिखराव 'छोटी-छोटी चीजें' कहानी में भी दिखाई देती है 'मैंने शराब छोड़ दी थी, सिगरेट पीना भी बंद कर दिया था। बाप बनने का अहसास... हॉस्पिटल... दवाएँ... दूध...। मुझे बीवी और बच्चे केलिए कुछ भी करना बहुत अच्छा लगता था। उधार- लेकर भी। मैंने कुछ ट्यूशंस कर लीं..... सब पैसे हाथ से मुंह तक आने में ही खत्म हो जाते थे... धीरे-धीरे शो केसों में जमे खिलौने, अच्छे कपड़े पहने औरतें और ऊंची बिल्डिंगों पर चमकती रोशनियाँ मुझे थकाने लगी।... जब हम दोनों इक्ट्ठे होते तो ही चीजें मेरे आस-पास एक जाल बुन देती.... मैं रात-रात भर पडा जागता रहता... वह मेरी बीवी लेकिन उसे छूने के ख्याल से ही मेरे हाथ कट जाते.....'[2] पति-पत्नी के मध्य आई दरियां जिनके कारण कहीं इसी समाज की अर्थव्यवस्था में पनपता है। "धीरे-धीरे वह मुझे कैसी नजरों से देखने लगी... कैसे-कैसे जलाने लगी... कहती मैं मरियम न हुई तो क्या हमारा मुन्ना तो मसीहा है! यही नाम रखा जाए क्यों...!"[3]

परिवार का टूटना, प्रेम, प्यार, रिश्तो का खत्म होना भी इसी समाज का एक हिस्सा है। आर्थिक अभाव जहां हमारे समाज में अनेक समस्याओं को जन्म देते हैं वहीं पारिवारिक कलह भी इसी अभाव की देन है। संजू अपनी पत्नी की आर्थिक जरूरत को पूरा नहीं कर पाता और मन की बड़ास अपनी पत्नी पर निकालता है।- जिंदगी में पहली बार मैंने उसे मारा! पर चुपचाप पिटती रही मैं चीखता रहा, गालियां देता रहा, मारता रहा। वह एक शब्द नहीं बोली। फिर उसे रात में मेरे पास आए। मुन्ने को मेरे पास लिटाया और कहा कि वह जा रही है। मैं देखता रह गया।4 यही संबंधहीनता मानसिक स्तर पर आज हर व्यक्ति अपने भीतर छुपाए हुए हैं - तुम्हारा प्रेम तो आदर्श भी नहीं कहा जा सकता है। तुम तो कितनी ही बार जब अपनी पत्नी के साथ होते हो तभी इस की कल्पना करते हो।5

मंज़ूर एहतेशाम की कहानी 'रमज़ान में मौत' के अंतर्गत भी यही संबंधहीनता प्रमुख भाव के रूप में उभर आई है। असद मियां जो अपने परिवार में ही बेगानों की तरह रह गए हैं। रमज़ान के दिन में उनकी हालत नाज़ुक है। लेकिन परिवार वालों को चिंता है कि ईद कैसे मनाई जाए। बिमारी की हालत में असद मियां पैथिडीन से ले लेकर खुद को जिंदा रखे हैं। घर के दूसरे लोगों के लिए यह मात्र एक तमाशा है, दिखावा है। तमाशाबज़ी है! निरी एक्टिंग और सारे मर्ज़ों की एक ही दवा है- पैथिडीन।6

असद मियां की हालत बद से बेद तर होती जाती है। डॉक्टर से दिखाने के नाम पर रिश्तेदार उन्हें ऐसे ही छोड़ देते हैं। उनकी बीवी को अपने मेकअप और बाजार से फुर्सत नहीं। यहां तक की असद मियां जी चादर पर लेटते हैं, उसे गंदा हुआ देखकर उसकी पत्नी सुहेला उसे पर व्यंग्य करते हुए कहती है- "अगर खुद साफ नहीं रह सकते तो दूसरों को तो चैन से मरने दें। खुद के पलंग पर नहीं लेते सके सारी चादर का सत्यानाश कर दिया।"7 भारतीय समाज में शादी को व्यक्ति के पारिवारिक कल्याण के निमित्त संपन्न होने वाला एक संस्कार माना जाता है। जिससे उसके सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति होती है। धीरे-धीरे लोग इसे सामाजिक समझौता मानने लगे हैं। जिसमें व्यक्ति मुख्यतः व्यक्तिगत हित एवं सुख सुविधाओं केलिए संगठित होते हैं। लेकिन सच यही तक नहीं है। विवाह मात्र सामाजिक एवं आर्थिक कारणों से आवश्यक नहीं है, प्रत्युत अनेक भावात्मक एवं दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी उस से होती है। यह वह सूत्र है जिसमें बँधकर एक दम्पति परिवार का निर्माण करते हैं।

घेरा कहानी में विवाह को एक नए रूप में दर्शाने का प्रयास किया गया है। एक सामाजिक समझौता है। जिसमें बँधकर शब्बो पूर्ण स्वतंत्र है और उसे मुक्त होकर शब्बों की मां बंधनग्रस्त है। शब्बों की अम्मा को अबू ने तलाक दे दिया और शाही खानदान की एक लड़की से निकाह कर लिया। वही अम्मा ने तलाक के बाद बगैर शादी के किसी कुंवर

साहब के साथ रहना शुरू कर दिया था। यहां लेखक ने तालाब के नाम पर टूटे परिवारों और दूसरी तरफ उसे टूटन से होने वाले दुष्प्रभाव का वर्णन किया है। जब शादी जैसे पवित्र रिश्ते को तलाक के नाम पर इतनी आसानी से तोड़ा जा सकता है। तो शादी करने का ढोंग क्यों किया जाए। इसलिए शब्बो की अम्मी इस समझौते को स्वीकार नहीं करती, और कुँवर साहब के साथ बिना विवाह के ही रहने लगती है, और कुँवर साहब के मरने पर किसी और के साथ रहने लगी- "इधर कुछ दिनों बाद कुँवर साहब तो मर गए लेकिन अम्मा उनके सोग में चूड़ियां तोड़े वैसे ही बैठी न रही थोड़ी ही दिनों में उन्हें फिर कोई चाहने वाला मिल गया"।[8] अम्मा के इस विरोध का, विद्रोह का असर शब्बो की जिंदगी पर पड़ता है। सौतेली मां की पांच लड़कियों से अलग व्यवहार उसके साथ किया जाता है क्योकि शादी को अस्वीकार करके शब्बो की अम्मी ने समाज को अस्वीकार किया था। विवाह जैसी पवित्र रिश्ते भी आज सिर्फ सुख व सुविधा की पूर्ति केलिए और आर्थिक लाभ केलिए, व दिखावे के लिए एक संस्था के रूप में चल रहा है। लेखक के शब्दों मे- "उसने शादी जिस इज्जत और आसानियों केलिए की थी वह आज उसकी है। इस जायदाद और रुतबे की एक सीढी के अलावा रहीम साहब का उसके जीवन में कोई महत्व न था, न है"।[9]

मंज़ूर एहतेशामजी ने अपनी कहानियों में दहेज प्रथा के विकराल रूप को भी दिखाया है और उसके माध्यम से भी मानवीय संबंधों में होने वाले बिखराव को प्रदर्शित किया है। तमाशा कहानी में मंज़ूर जी ने दहेज प्रथा की समस्या को भी पर चित्रित किया है। विवाह सिर्फ एक मजबूरी या जिम्मेदारी को पूर्ति करने के लिए एक साधन बन गया है क्योंकि दहेज न होने के कारण सकीना आपा अपनी बेटी का विवाह पैंतीस-चालीस साल बड़े शहंशाह के साथ करती है और दहेज कम मिलने के कारण वह हमेशा प्रताड़ित की जाती थी। इस प्रथा के कारण बेमेल विवाह को बढ़ावा मिला है क्योंकि धन के अभाव में मा-बाप अपनी लड़की का विवाह एक अयोग्य और उम्र में बड़े व्यक्ति के साथ करने केलिए बाध्य हो जाता है।

आज व्यक्ति अपने आप तक सीमित हो गया है। बढ़ते जीवन संघर्षों ने आज परिवार को रस हीन बना दिया है। विशेष रूप से हमारी नई पीढ़ियां अपने घर परिवार के प्रति उदास है और एक दूसरे से कट कर रहते हैं। आज हमारे युवा पीढ़ी अनेक बुराइयों से ग्रस्त हो चुकी है। चोरी करना, शराब पीना, जुआ खेलने, धूम्रपान करना, ड्रग आदि का सेवन करना। मंज़ूर जी ने अपनी कहानियों में आज की युवा पीढ़ी के भटकाव को दिखाया है। "रमजान में मौत" कहानी में आज की युवा पीढ़ी को असद मियां के माध्यम से बताया है असद मियां का बेटा जमील चोरी करना, जुआ खेलने, सट्टे लगाना आदि बुरी संगतियों में पड़ गया है। असद मियां को जमील के चोरी का पता लग जाता है। लेकिन वह उसे कुछ भी नहीं कहता है नसरीन भी अपने मार्ग से भटक चुकी है और अनेक बुरे लड़कों के साथ खुली जीपों में घूमती है। लेखक ने आज की युवा पीढ़ी के भटकाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

जमील चोरी के अलावा अब सट्टे से भी शौक की करने लगे हैं। इधर भाभी की हरकतें देखो, नसरीन भी उन्हीं के रास्ते पर चल रही है। पता नहीं किन-किन हरामज़ादों के साथ खुली हुई जीप में घूमती-फिरती है। यही सब दोनों छोटी बेटियां भी करेंगे।[10]

एक पारंपरिक समस्या प्रधान कहानी में भी आज की युवा पीढ़ी के भटकाव का वर्णन किया गया है। खान साहब के दोनों बेटे कोई काम धंधा नहीं करते हैं। वह अपने मार्ग से भटक गए हैं। खान साहब ने आदेश देता है कि या तो वह कोई काम धंधा करें वरना उनके घर में कोई जगह नहीं है एक दिन खान साहब के बेटे अल्लाह वाले पर उनके खुद बहनोई ने चोरी का इल्जाम लगा दिया। इस प्रकार युवा पीढ़ी के भटकने सेभी पारिवारिक संबंधों में दरारें पैदा कर दी है।

युवा पीढ़ी के चिंतन के अनुसार पुरातन मूल्य उनका विकास अवरुद्ध कर रहे हैं। धीरे-धीरे संपूर्ण व्यवस्था के प्रति उनके मन में विद्रोह भर जाता है। माता-पिता अपने युग के निरर्थक मूल्य से उन्हें आज भी चिपकाए रखना चाहते हैं। युवा वर्ग में इसलिए मूल्य के प्रति एक निस्संगता उत्पन्न हो गई है। क्योंकि उन्हें जीवन में मूल्य की कोई सार्थक उपयोगिता नहीं दिखाई देती। धन या अर्थ जीवन का सबसे बड़ा मूल्य बन चुका है युवा वर्ग से अच्छी तरह समझ चुका है। इसीलिए नई पीढ़ी में दकियानूसी विचारों के प्रति असंतोष, समाज के प्रति, सामाजिक मान्यता और परंपराओं के प्रति असंतोष है। मंज़ूर एहतेशामजी ने पुरातन और नवीनता के मध्य संघर्ष को अपनी कहानियों में चित्रित किया है। 'तस्बीह' कहानी पुरातन और नवीनता के मध्य संघर्ष की कहानी है। पुराने को न छोड़ने की चाह और नए को पाने की इच्छा दो ख्याल इस कहानी की कथावस्तु को समेटे हुए हैं। इस कहानी का मुख्य पात्र जो कि मुस्लिम मध्यमवर्ग से संबंध है, वह रीति रिवाज धर्म-कर्म को जबरदस्ती लादा गया बोझ मानता है। त्योहारों में होने वाले खर्च घर की जरूरतें और अन्य परेशानियां सब मिलकर उसे विरोधी बना देती है। नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की मान्यताओं का खंडन करती है। कथानायक की अम्मा धार्मिक ख्यालात की महिला है, और उनकी पत्नी साझेदारी उन्हीं के समान धर्म-कर्म में विश्वास करने वाली महिला है। अम्मा जी को रमज़ान में ज़कात बाँटने के लिए पैसे की जरूरत है इस पर बेटा कहता है – "अम्मा जी को यह नजर नहीं आता की पाँच साल से घर की दीवारें कलई को तरस रही है। घर मकबरा लगने लगा है। पैसा हो तो मैं यह ज़रूरी काम ना कराऊं। नई पीढ़ी के अनुसार धर्म-कर्म आदमी अपनी इच्छा से नहीं करता बल्कि मजबूरी से करता है। वह धार्मिक कर्मकांड को समाज के द्वारा लादा गया बोझ समझता है और इसका तिरस्कार करता है"।[11]

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि मंज़ूर एहतेशामजी ने अपनी कहानियों के माध्यम से मध्यवर्गीय समाज में अनमेल विवाह, नैतिकता के पतन, युवा पीढ़ी का भटकाव, आर्थिक समस्यावों, दहेज प्रथा, भौतिक सुखों की तलाश एवं पुरातन व नवीनता के मध्यसंघर्ष के कारण विघटित होते परिवारोंका सशक्त चित्रण किय है।

****

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मंज़ूर एहतेशाम, संपूर्ण कहानियाँ, पृष्ठ संख्या: 42
2. वही, पृ. सं.: 32
3. वही, पृ. सं.: 33
4. वही, पृ. सं.: 33
5. वही, पृ. सं.: 112
6. वही, पृ. सं.: 11
7. वही, पृ. सं.: 9
8. वही, पृ. सं.: 12
9. वही, पृ. सं.: 17
10. वही, पृ. सं.: 13
11. वही, पृ. सं.: 286

An Analytical Study of Peace Education in India

Dr. Rajkumari Gola
Assistant Professor
Department of Education
IFTM University, Moradabad, UP, India
Orcid Id: 0000-0002-4375-7850

Abstract: -This article examines the evolution of peace education and peace studies in India. Factors that influence the viability of this development include the philosophical underpinnings of peace education, ideological issues concerning the relationship between academia and politics, and the structural and economic conditions in India. An examination of Gandhi's legacy provides an additional lens by which to understand the ways in which peace education has and has not been developed in India. The article then analyzes the issues affecting peace education in a global context. It concludes with recommendations to enhance the success and visibility of this work and to support peace education in India. The purpose of this article is to share some of these insights, to explore some of the theoretical issues underlying the development of a Peace Education Centre, to consider the development of this Centre as a microcosm of larger issues affecting peace educators in India, and to examine the role of academics in the work of peace within the Indian context. This exploration ends with some recommendations for advancing the work of peace education in this region.

Keywords: Peace Education, violence, Nonviolence, Society, Satyagraha.

Introduction: As an academic discipline, peace education begs some clear definition; the evolving concept means different things in different contexts. Ian Harris suggests that peace education includes any attempt to teach about violence and alternatives to violence. While this might present a useful starting point, we need a more focused idea of what comprises this expanding discourse. Betty Reardon, one of the USA's groundbreaking peace educators, suggests that peace education is . . . the transmission of knowledge about the requirements of, the obstacles to and possibilities for achieving and maintaining peace, training in skills for interpreting the knowledge, and the development of reflective and participatory capacities for applying the knowledge to overcoming problems and achieving possibilities.

Peace education—education on peace-related content—is often distinguished from education for peace, which is a holistic approach to education that seeks to shape individuals and societies. These two processes, however, are not mutually exclusive. As peace educators, we typically see our role as twofold: to educate students about issues related to peace, conflict, and violence, and to transmit ideas and values that can infuse our students with ways of engaging in the world that add to its potential for peace. Some suggest that the main goal of peace education is to influence people to behave more peacefully. To develop caring and nonaggressive people who relate peacefully to others in their own lives, facilitate the well-being of others, and work to promote peace and prevent violence in society and the world at large. The goal is not regarded as simply to educate students but to transform societies: "For peace education to be effective, it must transform ways of thinking that have been developed over the millennia of human history."

An emerging question for peace educators is the degree to which our work should be focused on content, compared to the degree to which it should be focused on process, practice, and values that impact, both directly and indirectly, the students and contexts we encounter. A further question is to what degree academics take on the role of transforming societies as suggested above. Various dimensions of this field—conflict management, conflict resolution, conflict transformation, nonviolence studies, peace studies, peace research, and peace science—have all been carved out as particular pieces of this pie, perhaps unnecessarily creating arbitrary divisions. In some contexts, what might be considered peace education is also known as education for democracy, civic education, tolerance education, or human rights education. Within its scope, peace education has included a focus on interpersonal, intra-group, inter-group, and international conflict. Within certain realms, inner peace, or a spiritual dimension, has been related to the ability to impact larger global issues. Some contexts focus largely on international issues, while others prioritize the domestic domain. Harris has delineated five types of peace education, and attempts to provide some framework for these differing pieces of the pie: - Global Peace Education, which includes international studies, holocaust studies, and nuclear and

disarmament studies. Conflict Resolution Programs, which teach about mediation, negotiation, and various communication skills. Violence Prevention Programs, which emphasize domestic violence, drug abuse, anger management, and the teaching of tolerance. Development Education, which includes human rights education, environmental studies, and an emphasis on power, resource inequities, and structural violence and Nonviolence Education, which finds roots in the teachings and philosophies of Martin Luther King, Mahatma Gandhi, and other great peacemakers. While most programs of peace education likely combine various components of the above categorizations, these constructs are useful to consider as we begin to analyze the contexts in which they are offered. While some elements of peace education could be universal in relevance and applicability, Gavriel Salomon suggests that the ways we consider peace education should depend on the context in which it originates.

The goals, methods, and opportunities of this discipline are largely informed by the political climate of the region involved. Societies embedded in deep violent conflict, those struggling with subtle ethnic tensions, and others enjoying a climate of relative tranquility will each require a different integration of this discipline in academic and political arenas. In considering these goals along with the components of peace education suggested by Harris, we can see the myriad ways that peace education will vary according to context. However it is defined, peace education is a discipline that has gained much momentum in the last several decades. As a form of diplomatic intervention, it has come to be accepted as essential to the social change necessary for peacemaking and peacebuilding efforts worldwide. Education has long been considered an important dimension of multi-track diplomacy in an ever-conflicted world. There has been a tremendous increase in the number and types of certificate and degree programs offered in response to conflict and violence. The *Global Directory of Peace Studies and Conflict Resolution Programs* profiles over 450 undergraduate, masters, and doctoral programs and concentrations in over forty countries and thirty-eight American states. The reasons why educational institutions develop peace education programs during these troubled times may seem obvious. However, how and why such courses and curricula have been developed in some parts of the world and not in others may be less obvious. Issues related to ideology, socioeconomic and structural conditions and traditions of learning all play a part. Peace Education in India While the development of peace studies curricula is becoming a global phenomenon, some regions of the world, including India, have only recently joined this academic discourse. Only in the last few years has higher education in India turned deliberate attention to peace studies.Since the Supreme Court of India's 1991 directive around environmental issues. Environmental education has been taken more seriously, and since 2003 has become part of the compulsory education curriculum at all levels. Gender studies, social work, and psychology have addressed issues such as domestic violence and drug abuse, and the Domestic Violence Act of 2005 has attracted attention at the national level. Of course, Mohandas Gandhi ji is widely studied in multiple political and philosophical arenas, and there are several programs in Gandhian thought and peace studies, which inform the studies on nonviolence. In all of these arenas, while important dimensions of this field are addressed, the focus is not on peace education *per se*, but more on specific discipline-bound pieces of the pie. Furthermore, in most of these programs, the focus is mainly on content rather than on "education for peace," whose curriculum is intended gradually to transform society. Slowly, other dimensions of peace education are emerging. The Nelson Mandela Centre for Peace and Conflict Resolution was launched in 2004 by Jamia Milia Islamia in New Delhi; it claimed to be one of the first centers for peace and conflict studies in an Indian University.

In many situations, what might be defined as "Peace Studies" or "Peace Education" as outlined by Harris got subsumed into other arenas or departments and was not given a central place in the curriculum. In many cases, Gandhi's life and thought became the central point within this curriculum, but analysis of the implications of this thought and its efficacy in a comparative perspective within a global context was lacking. While the events of Gandhi's period were chronicled in detail, the connections of his thought to global problems attracted less attention. Gandhi's relation to peace evoked different reactions. Gandhi's views evolved over time and his "pacifism" is markedly different from that of western anti-war pacifists. The study of peace, as it related to Gandhi's work, focused mostly on *satyagraha* (holding on to truth) and *ahimsa* (nonviolence), which are only a portion of his work. Because there has often been a divide between nonviolent action and conflict resolution in peace studies curricula, the seemingly natural link between Gandhi's ideas and peace studies as an academic curriculum has been surprisingly blurred. Gandhi did discuss education in his writings and, in many ways, espoused a philosophy parallel to those who see educating for peace as a way to imbue values and transform societies. He had an integral and holistic perspective of human living, and his ideas on education

primarily addressed national regeneration and progress. Gandhi's ideas spelled out in "Basic Education," Combined with his other views, have strong relevance to peace studies curricula. This relevance is evidenced by the number of scholars and activists in several fields—education, religion, environment, politics, economics, and others—who follow and incorporate Gandhi in wide-ranging cultural contexts and situations. It is ironic, therefore, that academia has so tepidly implemented his ideas besides ideological issues, structural and institutional factors influence higher education and the development of peace studies in India. On a structural level, it is unclear how much influence academic thought carries in the political arena. There is much cynicism about the role of academics in third-world societies; researchers and scholars are often considered to be armchair theorists. While the academy has much to offer in the understanding and prevention of violent conflict, this wisdom has yet to be fully utilized. Offering curricula in this context can only be a viable proposition if academics have a significant and substantial voice.

It has become common in recent years to establish separate universities for agriculture, veterinary science, technology, women's studies, medicine, law, sports, and allied fields. Most universities introduce the same disciplines and teach the courses in a more-or-less uniform way. Typically, administrations have not allowed deviation or innovation to suit the new necessities and changes in society. Reforms percolate slowly, sometimes imitating western institutions without adequate preparation and consensus. Within the Indian university system, the potential for new departments to innovate around interdisciplinary and multidisciplinary areas is diminishing. Faculty strength is not increasing, and university administrations are suggesting that departments raise their own funds to continue or start fresh academic activities. As education in the humanities and social sciences is undervalued in certain Indian states, fresh initiatives are slow to emerge. Relative emphasis on science and technical education has also limited the resources available to promote new courses and ideas in new branches of learning. As is the case in many other countries, Indian universities seem to be operating with less state funding for their programs than before. Furthermore, the percentage of the Indian population pursuing higher education is still a small fraction of the overall population; currently, only ten per cent of young people are seeking a college education and still fewer are enrolled in universities. Some institutions have analyzed issues pertaining to structural violence in specific contexts, have offered solutions in neighbouring villages, and have contributed to the working of civil-society organizations in certain localities. However, india's larger economic, structural, and ideological challenges make it difficult for peace studies and peace education to meet their potential for impact. The structural violence that peace education seeks to eradicate is the very thing that inhibits its development.

The Development of a Centre: -In an attempt to address some of these issues, five faculty members at the University of Madras with a long history of shared interests in the area of peace and conflict founded the Centre for Peace and Conflict Resolution Studies (CPCRS) in 2003. They came from the departments of Politics and Public Administration, International Law, Christian Studies, Islamic Studies, and Anthropology. The CPCRS was started through the initiative of these individuals rather than through any institutional body or agenda. It received verbal support from the University administration but no formal financial or institutional support. At different times, several of these faculty members were heads of their respective departments, with extremely limited time, energy, and resources to carry out CPCRS activities, but they persevered. The experiences and interests that motivated these faculty members toward the development of the CPCRS varied. Motivations included a lifelong interest in Gandhi and his thinking on peace, awareness of the economic issues related to both military spending and development, increased dissatisfaction with an overly litigious and combative legal system, increased concern over the role of religion in violent communal conflicts, and extensive involvement in human rights issues, particularly those related to caste-related oppression and women's rights. The interdisciplinary nature of the faculty and their interests created a wide-ranging agenda. Initial goals and objectives were as follows:

1) To explore the theoretical underpinnings of peace and conflict;
2) To provide educational programs and activities for students and community members;
3) To provide support for, and engage in, various peace building activities;
4) To increase the role of scholars in India in peace-related issues and conflict resolution activities; and
5) To develop a network of scholars in the field.

Further, various meetings were held with community groups to explore local and national issues of peace and conflict resolution.

The Role of Peace Educators within India: -

Given the challenges presented above, the role of the peace educator in India warrants deep exploration. The Centre's faculty members have given much thought to this question, and the following thoughts emerged in

discussion: The role of academics is to serve people-
In a variety of ways, for academia is answerable to the people to society. When academics engage themselves with the issue of peace, they are doing what every academic should be doing. This flows from the social responsibility that all forms of knowledge should have. It is important to awaken a sense of responsibility among scholars and students to contribute to peace and communal harmony. The role of academics is one of animation and, wherever feasible, guidance.
Education should be used as a means to transform institutions and societies. Scholars need to initiate peace through academic discourse within and outside campuses and institutions. They need to teach peace, order, and conciliatory attitudes as value-laden life processes in civic education. They need to change the mindset inherited from past generations by re-implanting a culture of tolerance and conciliatory notions both at early-learning and mature levels of education.
Academics can play a major role in peacemaking and peacebuilding activities, and the academy can play a leading role in making society more peaceful. Through their work in their respective institutions, through their writings, and through appearances in the media, academics can play a vital role.
Academic institutions are becoming aware of the efficacy of training programs. They are prepared to learn from common people and be influenced by their needs and desires. A peace centre can address a variety of issues and make more and more people see why peace is needed and what peace can bring.
Wherever possible, teachers should teach these courses even when formal and financial support are lacking. Commitment to peace should enable teachers to start in a small way and try to convince the more influential of the need for, and scope of, peace studies. Scholars need to set examples and make students and administrators believe in the efficacy of peace education.
The role of peace educators is rooted in the ability to provide hope and confidence. Despite skepticism regarding the role of scholars, people still have faith in them; their works and words carry respect and regard among common people. Their involvement in peacemaking and peace building will generate confidence. Their impartial, supposedly unbiased, and forthright views will first of all enhance hope among the needy, those who are most in need of peace. And their involvement will be welcomed without suspicion. The academics' role is one of hope.

Recommendations: -

In light of the challenges outlined above, we offer several recommendations to assist in the nurture of peace education in India:-Awareness about peace education has not percolated adequately in India. It is imperative to increase this awareness. Through all levels of education, community groups, and private and public organizations, communicating the potential for this discipline is important for its success and viability. By teaching peace-related issues in primary-school levels, educators may introduce peace education as a core, rather than peripheral, force in education.
Scholars must involve the media whenever possible in peacemaking and peace education in order to cultivate these ideas in the public mind. Peace educators need to spark the interest of the media and the general population, and finding connections to this interest is crucial.
The world, and particularly the academic world, needs to be aware of the paucity of resources in Indian academic institutions. The ability of third-world countries to contribute their most vital scholarship to this discourse depends on their ability to reach their audience. Greater understanding of the limitations within third-world institutions in the development of peace education programs is vital.
One way to address these resource issues is to develop partnerships for Indian institutions. Linkage grants and reciprocal arrangements between institutions in India and institutions overseas can have multiple benefits: they can distribute global financial resources more equitably, increase the opportunities for cultural and intellectual exchange, and expand the network of international peacemakers.
An additional way to help develop peace studies in India is to cultivate the support of corporate sponsors and foundations. Academics need to find ways for potential funding bodies to see peace education as a discipline that is in line with their own goals and missions. Peace is everyone's business. Supporting the development of peace education as an academic discipline is not just an act of philanthropy; it is an investment in the future of the country.
Academics need to bridge the divide between theorists and practitioners. Partnerships between universities and other peace building institutions such as nongovernmental organizations, development organizations, religious organizations, and dialogue, training, and reconciliation groups will all increase the role and visibility of academics. These bridges are essential to develop successful partnerships for peace.
Political decision and policy makers need to know about the need for peace studies and peace education programs. Their acceptance and support will greatly enhance the respectability and validity of peace education

in academia. Academics, in turn, need to be not just theorists, but also viable policy informants. It is important to utilize and nurture the bridges that do exist between the academic and political worlds.

Scholars need to develop curricula that have both domestic and international relevance. Peace studies will only become a viable and successful venture in India if students show an interest in its offerings. Connections to current crisis situations of which people are aware go far to popularize peace education courses. It will help to broaden the definition of "peace" as a concept that goes beyond the cessation of war, and make links to issues crucial to society. Issues such as women's and *Dalit* rights, democracy, resource distribution, environmental issues, communal conflicts, and development are all vital to the teaching of peace. Joining forces with other departments teaching in these areas and connecting with them under the rubric of peace studies can give peace education greater visibility and a stronger base in Indian colleges and universities.

Issues of pedagogy in India demand attention. One way to help integrate the issues and skills essential to the work of peacemakers is to challenge traditional learning methods. Paolo Freire has written on the use of education both as process and content to address issues of hierarchy and oppression. Experiential learning, engaged pedagogy, interactive teaching methods, and dialogue are all necessary tools for the peacemaker's classroom. Through these methods, students do not only gain information about peace issues; the methods themselves engender change in individuals and groups that can have a ripple effect in other contexts. Thus, peace education joins together with education for peace to influence society in a holistic way. While pedagogical change is important, it can only be done successfully within the bounds of Indian culture and society. What might be appropriate pedagogically in other contexts may not be so in India, so shifts in philosophy and pedagogy must coincide with cultural values and approaches.

Indian academics need deeper discussion on what they most hope to achieve to further peace education in India. Issues of development, human rights, communal conflict, and conflict with Pakistan have been the foci of peace studies curricula. Given these foci and India's own history of embedded conflict, using education to address the conflicting histories, narratives, and inequities among its population could go far to break through some of the intractability around these conflicts. Education is a highly underutilized tool to address India's multiple issues.

While some of these recommendations may seem self-evident, it is important to think clearly and directly about them. Peace is a choice, not an accidental state of being. So also is the conscious development of ways to enhance the work of peace. Peace education and research make up a large part of this work. India has the intellectual, historical, and philosophical potential to be a leader in this field, and the world has much to learn from her. Yet in the current state of vast global and structural inequities, India cannot do this alone. As stated earlier, peace is everyone's business; so is the development of peace education in India and other third-world regions.

References:

1. Adval, S.B. (1968) The Third Indian Book of Educational Research N.C.E.R.T., New Delhi.
2. Anastasi, A. (1970) "Psychological Testing" New York.
3. Buch, M.B. (78-83) "A survey of Research in Education" (IIIrd Survey).
4. Freeman, FS (1965) "Theory and Practice of Psychological Testing, Oxford and I.B.D. Publication Co., New Delhi.
5. Good, C.V. (1959) "Dictionary of Education" (IInd Ed.) Mc. Graw Hill Book Co., Inc., New York.
6. Leonisa Ardizzone, "Towards Global Understanding: The Transformative Role of Peace Education," *Current Issues in Comparative Education* 4, no. 2 (2002): 16–25.
7. Mahatma Gandhi, "Basic Education," in *Selected Works of Mahatma Gandhi*, ed. Shriman Narayan, vol. 6 (Ahmedabad, India: Navajivan, 1968).
8. Manmohan Singh, Prime Minister of India, Convocation Address (Benares Hindu University, Varanasi, India, 15 March 2008).
9. Prabha Desikan, "Waste Management: Flexible Rules will Improve Compliance", *The National Medical Journal of India* 17, no 2 (2004): 118.
10. Scott, W.A. (1965) "Values and Organization" Chicago, Rand Manually.
11. See especially Galtung, "Violence, Peace and Peace Research."

Exploring Gibson's *Neuromancer* as a Feminist Cyborg Manifesto

Saranya. S,
Research Scholar
The Department of English,
Avinshilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women, Coimbatore,
Tamil Nadu, India, 641043.

Abstract

This paper deals with the concept of feminist cyborg identity portrayed by William Gibson in his novel *Neuromancer* (1984) in the light of Donna Haraway's *A Cyborg Manifesto* (1985). Molly Million, the heroine of *Neuromancer*, deviates from traditional feminine traits. In most literary works, the main character will be always a male, while women characters was given the least importance and portrayed as vulnerable and feeble. In *Neuromancer*, Molly plays the antithesis of the stereotypical feminine qualities. The main protagonist of the novel, Henry Dorsett Case, was given a career opening and teamed up with Molly to complete a task. When they are together, Molly goes aggressively around carrying out risky tasks while Case remains on the safe zone. Being a cyborg means being fearless, quick, and brazen like Molly, but being a goddess means being a conventional female. It serves as a paradigm for how socialist feminism is conceptualised in contemporary culture. Because Molly and Wintermute are the corresponding examples of an organism and a machine, the boundary breakage between them illustrates the breakdown of barrier between Molly and an Artificial Intelligence (AI). There are times when Molly and Wintermute could tolerate one another, it impliedly demonstrated the relationship between people and technology, which is connected to a dualistic view of mind and body in the cybernetic universe, much like the relationship between advanced technology and scientific culture. The ultimate force that governs the body is the mind, which stands for artificial intelligence. Molly's technical advancements serve as a representation of her power which set her apart from conventional female roles. In *A Cyborg Manifesto*, Donna Haraway states that there will be a reversal of existing gender roles with the birth of new cyborg era. This article aims to determine whether reversal of such gender roles are even possible in the contemporary era.

Keywords: Cyborg, Feminism, Gender Identity, Artificial Intelligence, Cybernetic Universe.

Exploring Gibson's *Neuromancer* as a Feminist Cyborg Manifesto

Introduction-William Gibson is an American-Canadian author renowned for his pioneering contributions to science fiction, particularly the cyberpunk subgenre. Born in 1948 in South Carolina, Gibson's work explores the complex relationships between technology, society, and human identity. His innovative storytelling and futuristic visions have earned him the title of "father of cyberpunk," a genre characterized by its focus on high-tech, low-life settings, dystopian worlds, and the impact of advanced technology on humanity. Gibson's most famous and influential work is Neuromancer, published in 1984. The novel is widely regarded as a cornerstone of the cyberpunk genre and had a profound impact on science fiction literature and popular culture. Set in a gritty, dystopian future, Neuromancer follows Case, a washed-up hacker who is hired by a mysterious employer to pull off a heist in cyberspace, a virtual reality network. The book introduces groundbreaking concepts such as cyberspace, artificial intelligence, virtual realities, and hacking, many of which were ahead of their time.

Neuromancer was not only a critical and commercial success but also won several prestigious science fiction awards, including the Hugo, Nebula, and Philip K. Dick Awards. Its exploration of a digital world shaped by corporate power and individual rebellion is often seen as prophetic, especially as the internet and virtual realities began to emerge in the decades following its release. Gibson's portrayal of cyberspace, in particular, has had lasting influence on the development of digital culture and how we think about online spaces today. Through Neuromancer and his other works, Gibson's exploration of the future remains a central part of the conversation about technology, identity, and society in the modern age. His contributions continue to inspire writers, filmmakers, and technologists alike.

Donna Haraway is an influential American scholar and feminist theorist, known for her work in the fields of science and technology studies, feminist theory, and philosophy. Born in 1944, Haraway is particularly renowned for her contributions to understanding the relationship between humans, technology, and the natural world. She is considered a key figure in postmodern feminist thought and has challenged traditional views on identity, biology, and the body.

One of Haraway's most seminal works is A Cyborg Manifesto: Science, Technology, and Socialist-Feminism in the Late 20th Century (1985), in which she introduces the concept of the "cyborg" as a metaphor for breaking down rigid boundaries between nature and culture, human and machine, and male and female. The manifesto challenges traditional feminist, Marxist, and dualistic thinking by proposing that the cyborg- a hybrid of human and machine - offers a new way of understanding identity, politics, and social transformation.

In A Cyborg Manifesto, Haraway critiques the limitations of both traditional feminism and essentialist views of gender and biology. She argues that the cyborg, as a creature that transcends these boundaries, symbolizes a more fluid, inclusive vision of humanity and a way to rethink relationships between individuals and their technological environments. Haraway envisions a world where identity is not constrained by biological determinism or societal norms but is instead shaped by interactions with technology, culture, and social structures. Her work has had a profound impact on feminist theory, posthumanism, and the study of technology. Haraway's concept of the cyborg as a feminist figure has inspired numerous scholars, activists, and artists to explore how technology can be harnessed to subvert traditional power structures and offer new possibilities for empowerment and transformation. A Cyborg Manifesto remains a foundational text in feminist thought, offering a radical and visionary approach to the intersections of gender, technology, and society.

Objectives

The objectives of the study are:

1. To explore the relationship between technology, gender, and identity through the lens of Donna Haraway's *A Cyborg Manifesto* (1985).
2. To analyse the concept of feminist cyborgs through the character of Molly in William Gibson's novel *Neuromancer* (1984).
3. To examine how the technologically modified bodies challenges capitalist, colonial, and patriarchal structures in a society.

Subject matter- William Gibson introduced the concept of Cyberpunk which is the subgenre of science fiction in his novel *Neuromancer*, published in 1984. The term Cyber is derived from the word "cybernetics," while "punk" was a term popular in the 1970s that was defined as quick, too noisy, and violent. The word cyberpunk as well as cyberspace first emerged in the context of postmodernism as computer mediated communications technology. However, several critics have believed that computers are not highly intelligent as humans. On the other side, writers like Dona Haraway has given new interpretation to the cyber world. Haraway believed that the border between societal reality and science fiction is an optical illusion. In the twenty first century, science fiction is no longer considered to be science fiction but rather the everyday reality that civilization must endure.

Haraway published her most influential essay A Cyborg Manifesto in 1986, which deals with the concept of feminist cyborg. A cyborg is a being that has a cybernetic organism implanted inside the body. It is a combination of machine and organism, a creation of social reality as well as a fiction. Haraway, an activist of women's rights and gender equality contends that feminists should choose their affinities exactly like cyborgs. In her essay, Haraway used gender as a tool to analyse the power of cyborg. In social world, patriarchy, colonization, and capitalism are still responsible for the depiction of women in many literary cannons. Despite the fact that the cyborg deconstructs many of the dualisms existing in the western society, Haraway claimed that she would rather become a cyborg than a goddess. In the twenty first century, women have given least significance in the networks and when it comes to female cyborg identities it is followed with many differences and contradictions.

Haraway uses the metaphor of the cyborg to envision socialist feminism in today's society. It can alter a woman's perception of herself since being a cyborg is both a lived experience and a work of fiction, yet there is a thin line that separates science fiction from social reality since it is considered as an optical illusion. Cyborg can be interpreted as a person who created coded devices for their bodies that will eventually transform them into post-humans. The implantations of coded devices and machines can be viewed as a means of survival, like Henry Dorsett Case, the main character in the novel Neuromancer, an internet hacker whose life was nearly shot down when he got caught of hacking his company's precious data. His company was furious and wanted to make sure he could never hack computers again, so they damaged his brain with a "mycotoxin" (Gibson, 6) which is used in warfare. As the novel progress, a person named Armitage shows up and offer Case to fix his damaged nervous system in return for his hacking talent.

Armitage is assisted by a women named Molly Million. She can be considered as a hired assassin or a security guard. Her physical body has undergone substantial surgical modifications. She has lens implants placed in her eyes that helps her to see in the darkness and give her real-time information regarding her environment, as well as razorblades that emerge from her nails and a

predator nervous system that has been rewired. Molly frequently claims that her primary motivations are financial gain and self-preservation. Although she feels a sense of professional pride, she has little love or devotion for her employers. At the beginning of their professional career with Armitage, Molly and Case become sexually attracted to each other. Despite this, she continues to be emotionally distant from Case. As the novel progress, Case realises he knows very little about her and understands she has little interest in him.Case and Molly works together for several tasks under Armitage, who has been hired by an Artificial Intelligence named Wintermute. As Molly offers the physical strength to her team by entering hostile territory, Case act as the technological backbone of their mission. Case also continues to experience the world through Molly's eyes even when he retreats to a secure area because of their continued connection via Molly's "simstim" (48). The book closes with a message from Molly saying that Case is making her slower and that she must leave him to start a new life in a new place. With all her extravagant technological enhancements, the character of Molly has produced a great effect on readers and has outshined all the other characters in the novel.

There are two artificial intelligence in the novel such as Neuromancer and Wintermute. The concept of machine and organism has been explored by female writers in an effort to challenge stereotypes of women. Gibson, however, presents Molly as a furious and physically powerful young woman who can courageously express her opinions. In the novel, Molly seems to be extremely interested about the two artificial intelligence and she works nicely with Wintermute. Molly and Wintermute seems to have no boundaries in the novel.

Due to the strength that Molly held, Case's persona was lowered into a more feminine one, while she held the masculine one. Molly promptly defends her own rights when Terzibashjian, a street-level informant from Turkey, develops an instant disliking to her since he disapproved of a lady who was equipped with modifications. In cyberpunk fiction, male dominance still prevails, but as science and technology advance, so do women's positions.

The female body was celebrated at the time of third wave feminism, according to which a female body should be considered as an asset that should not be hidden or ashamed of. Instead, a woman may choose to utilise her physical body as a point of resistance. Likewise, the bodily enhancements helps Molly to suppress all her feelings and emotions. Gibson makes Molly manlier by removing all her emotions through her augmentations. As a result, Molly not only sheds her feminine identity but also creates a new one that is both manly and autonomous. The artificial modifications in her physical body along with cyberspace, has provided her the capacity to change the identity. The change in identity allows to transcend gender and physical limitations.

The character Molly changes the narrative on the conventional gender roles. She is perceived as a female rebelling against the patriarchal society. With the age of technology, the mind has developed into artificial intelligence. On the other end, a cyborg's body represents both their sexuality and gender identity due to their constructed body. When Molly's body was taken over by her thoughts, the dualism of mind as well as body occurred.

Conclusion

The character of Molly has brought the distinction between an organism and a machine very close. The bond between Molly and Wintermute is a reflection of how people have interacted with technological devices since the middle of the 20th century. It is ironic to claim that technology has surpassed humanity via Molly's character because she was concentrated on her technological upgrades. She is more dominant due to more advanced technologies. With all her power and technological advancements, Molly has the opportunity to break out of the traditional female position that has been the norm for many generations. She is not in this novel as a victim of capitalism, colonization, and patriarchal domination.

****

Works Cited

1. Abdel-Lateef, Shaza. "Feminist Cyborg." Academia.edu, 23 May 2014, https://www.academia.edu/3105872/Feminist_Cyborg.
2. Gibson, William. Neuromancer. Ace Science Fiction, 1984.
3. Haraway, Donna Jeanne. Cyborg Manifesto. Camas Books, 2018.
4. Hui, G., and R. Babaee. "The Identity of Female Cyborg in William Gibson's Neuromancer." International Journal of Comparative Literature and Translation Studies, 1 Apr. 2015, https://www.semanticscholar.org/paper/The-Identity-of-Female-Cyborg-in-William-Gibson%E2%80%99s-Hui-Babaee/dada960fc6827b488508e89af7809308b453f15e.
5. Sattar, Sanyat. "The Cyborg Entity in Gibson's Neuromancer." The Cyborg Entity in Gibson's Neuromancer: An Idealistic "Cyborg Manifesto?"-David Publishing Company, David Publishing, https://www.davidpublisher.com/index.php/Home/Article/index?id=21087.html.

A PRESENT ASSESSMENT AND DETAILED ANALYSIS OF CURCUMIN'S PHARMACOLOGICAL EFFECTS

Ashutosh Pathak [1,2]

1.Department of Pharmaceutical Sciences, Sam Higginbottom University of Agriculture, Technology & Sciences, Allahabad, Uttar Pradesh, India - 211007

2.Institute of Pharmacy, Dr. Shakuntala Misra National Rehabilitation University, Mohan Rd, Sarosa Bharosa, Lucknow, Uttar Pradesh India – 226017.

ABSTRACT: The root of turmeric, naturally termed turmeric or Curcuma longa Linn, originates in temperate and subtropical area. Across the globe. Turmeric is rich in nutrients. Curcumin is responsible for the majority of the actions linked with turmeric, according to extensive study over the last 50 years. Turmeric contains antioxidants, anti-inflammatory compounds, anti-coagulant and anti-diabetic effects antimicrobial, anti-ulcer, wound healing, and anti-fertility, anti-arthritis, anti-Alzheimer, anti-Parkinson, anti-cancerous, anti-HIV, anti- angiogenesis properties. It is useful in diabetes. Turmeric powder is commonly used to add colour and flavour to meals and is also used in traditional Indian medicine to cure many ailments. Turmeric appears to provide considerably more beyond just a yellow pigment for Indian curries because to its chemical constituents, curcumin and curcuminoids. In mediaeval Indian medicine, turmeric extract is widely used to alleviate a broad range of illnesses in addition to adding colouration along with taste to meals.

KEY WORDS: curcumin, Zingiberaceae, anti-mutagenic, food preserving agent, 2-hydroxymethyl anthraquinone.

INTRODUCTION- Turmeric (Curcuma longa) is an annual plant of the Zingiberaceae family. Its roots are used in food preparation. The turmeric plant's rhizome is often washed, cooked, and dried to produce a yellow powder for therapeutic purposes. Turmeric, derived from dried Curcuma longa, is responsible for the yellow colour of curry powder. Turmeric has been used for its flavour and colour in food, as well as in Chinese and Ayurvedic medicine [1]. Turmeric is traditionally used in Ayurvedic medicine to strengthen and warm the body. India has a long history of medicinal plant use. Turmeric contains curcumin, a compound with anti-inflammatory, antioxidant, anti-mutagenic, and antibacterial effects. The everlasting floral plant, native to south Asia and Indian subcontinent, thrives at degrees ranging from 20 to 30 °C (68 to 86 °F) with high annual rainfall [2].

In India, turmeric, or Curcuma longa, is widely utilized as spices, food preserving agent, and colouring agent. Turmeric, also known as the 'KITCHEN STAR', is a popular spice among Indians, including homemakers and Himalayan hermits alike [3]. Long-term usage of turmeric, Tulsi, and trifala is similar to a short-term Pancha Karma therapy. Curcumin(turmeric) has antioxidant properties and protects against free radical damage. Curcumin also has anti-cancerous effects and prevents cancer. It suppresses an enzyme called as topoisomerase, which is crucial for cancer [4].

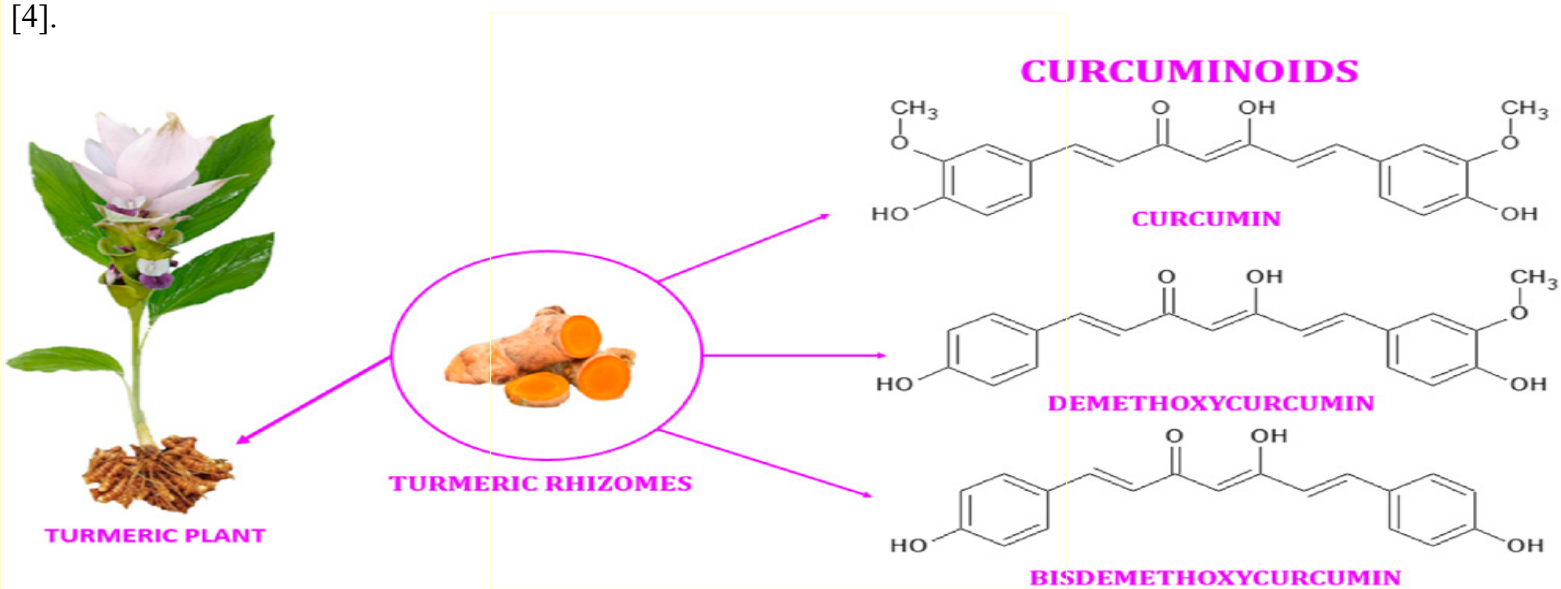

Fig. 1

Table. 1 CLASSIFICATION ACCORDING TO TAXONOMY [5]

Scientific Name	Curcuma longa
Kingdom	Plantae
Sub-kingdom	Tracheobionta
Super division	Spermatophyta
Division	Magnoliophyta
Class	Lilliopsida- monocotyledons
Subclass	Zingiberidae
Order	Zingiberales
Genus	Curcuma L. curcuma
Species	Curcuma longa L

TURMERIC'S HISTORY:-Turmeric has been utilized as an ingredient in cuisine and holy symbol for about 6000 years in India's Vedic civilization [6]. Marco Polo (1280 AD) describes curcumin as Indian ginger that was utilized for dyeing clothes. For over thousands of years, turmeric has been utilized in India for medicinal, aesthetics, food preparation, as well as dyeing. It is referenced in the Artharva-Veda of India. For more than 2000 years, Buddhist monks have used turmeric as a colour for their robes. For over thousands of years turmeric is used medicinally, particularly for the intestines, abdomen, and liver. It is used for stimulation and purification, as well as anti-biotic, anti-viral, and analgesic properties [7]. This natural remedy is beneficial for females as it strengthens the reproductive system and relieves menstruation blockage [8]. In the mid-1870s, researchers observed that bases caused curcumin root powder to become reddish brown. The identification resulted in the creation of curcumin paper for testing basicity [9].

Table. 2 Various names of turmeric in different language

Entry	Language	Name	Entry	Language	Name
1	Arabic	Kurkum	21	Kannada	Arishina
2	Armenian	Toormerik, Turmerig	22	Korean	Kolkuma, Tomerik
3	Assamese	Halodhi	23	Malayalam	Manjal
4	Bengali	Halud	24	Marathi	Halad
5	Bulgarian	Kurkuma	25	Nepali	Haldi, Hardi
6	Burmese	Hsanwen, Sanwin	26	Norwegian	Gurkemeie
7	Chinese	Wat gam	27	Portuguese	Acafrao da India
8	Dutch	Kurkuma, Tarmeriek	28	Punjabi	Haldi
9	English	Indian saffron	29	Russian	Kurkumy
10	Farsi	Zardchubeh	30	Sanskrit	Ameshta, haridra
11	French	Safran des Indes	31	Spanish	Curcuma
12	German	Indischer safran	32	Swedish	Gurkmeja
13	Greek	Kourkoumi	33	Tamil	Manjal
14	Gujrati	Halad	34	Telugu	Haridra, Pasupu
15	Hindi	Haldi	35	Thai	Kha min chan
16	Hungarian	Kurkuma	36	Tibetan	Gaser, Sga ser
17	Icelandic	Turmerik	37	Turkish	Hint safrani
18	Indonesian	Kunyit	38	Ukrainian	Kurkuma
19	Italian	Curcuma	39	Urdu	Haldi, Zard chub
20	Japanese	Ukon	40	Vietnamese	Botnghe, Uatkim

CULTIVATION

Soil: Turmeric production's soil should be fertile and porous. Soil that has a somewhat greater sandy concentration seem ideal. turmeric grows in a variety of soil types, including dark and light ones. This plant thrives in watered and rain-fed locations of horizons ranging from a dark, and reddish to rigid clayey soils. Turmeric may be cultivated in a variety of tropical settings, from below the surface level to 1500 millimetres above sea level, alongside temperatures ranging from 20 to 35 degrees Celsius and an annual rainfall of 1500 mm or more, either rain-fed or watered [10].

Climate: Turmeric thrives in degrees ranging from 20°C to 30°C and requires high precipitation throughout the year. Every plant reach to a height of one meter and are tall
lengthy, rectangular leaflets. Turmeric, being a tropical plant, grows across both tropical and subtropical regions. Turmeric, being a tropical plant, grows across both tropical and subtropical regions [11].

Irrigation: Turmeric's irrigation frequency varies according on soil and climate conditions. Watering is recommended for moderate soil based on rainfall [12].

Storage: Turmeric's rhizomes for germination are frequently stored in shaded areas and adequately conditioned shelters, wrapped in curcumin leaf. Seeds, roots can also be preserved in holes with soot [13].

Harvesting: According to the type, yield is available for harvesting seven to nine month following sowing in the first three months. Earlier types develop in seven to eight month a period of time middle kinds in eight to nine months, while latter variants take nine months to mature as detail shown in cultivation of turmeric [14].

Fig. 2 cultivation of turmeric

Table. 3 Phytoconstituents [Plant-based constituents] [15-18]

Sr. No.	Phytoconstituents of turmeric
1	**1,8-**cineole, 4-hydroxybisabola-2, 2-bornanol, and 2-hydroxymethyl anthraquinone
2	Alpha-atlantone, Alphapinene, Alpha terpineol, Ar-turmerone & Arabinose constitute the molecules that make up 10-diene-9-one, 4-methoxy-5-hydroxybiosabola, and 4-hydroxy-cinnamoyl-(Feruloyl)-methane.
3	chromium, cineole, innamic acid, cuminyl alcohol, calcium, carbrylic acid, caryophyllene, curcumene, curcumenol, curcumin, curdione, cobalt, and copper. Borneol, boron, bis-desmethoxycurcumin, bisabolene, and caffeic acid. 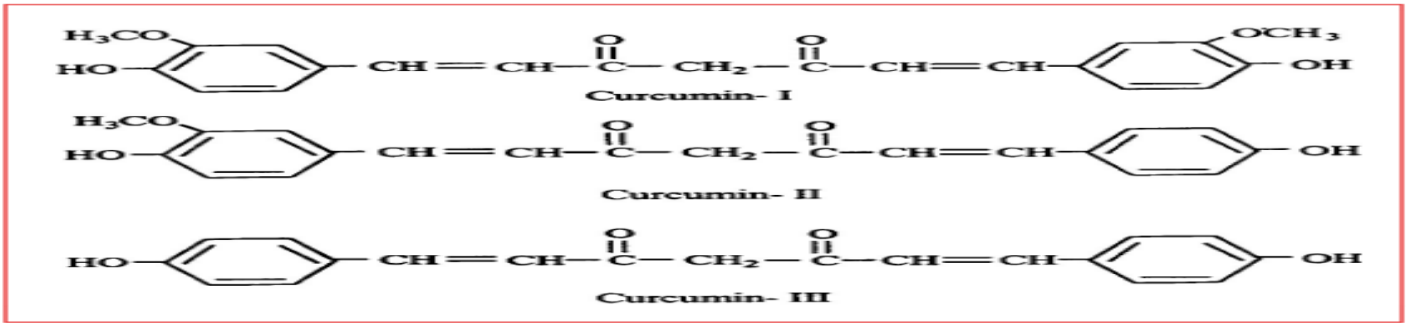
4	Ash, azulene, betacarotene, beta-pinene, bis-(para-hydroxycinnamoyl)-methane, ascorbic acid, and beta-sesquiphellandrene.
5	Phosphorus, Protocatechuic acid, Procurcumadiol, L-beta-curcumene, Limonene, Manganese, Niacin, Nickel, norbixin, P-coumaric acid, P-methoxycinnamic acid, Pcymene, Ptolymethylcarbinol, and Monodesmethoxycurcumin.
6	Guaiacol, Isoborneol, L-alphacurcumene, Eugenol, Epiprocurcumenol, Eucalyptol, Germacrone, Germacrone13-al, and alpha-atlantone
7	The polysaccharides A, B, C, and D stand acidic.
8	Highly volatile oil (4.2%) is made up of ar-curcumene, germacrone, curcumene, arturmerone, and turmerone.
9	Further chemicals: Turmeric contain protein (6.3%), fat (5.1%), minerals (3.5%), carbohydrates (69.4%), and moisture (13.1%). Curcumin (diferuloylmethane), a phenolic diketone consisting of curcumin I (94%), curcumin II (6%) and curcumin III (0.3%), is responsible for the yellow color.
10	Further chemical components include magnesium, beta sitosterol, campesterol, cholesterol, and copper/ zinc. There are also fatty acids and metals including iron, manganese, potassium, sodium, and magnesium.

APPROACHES OF CURCUMIN SEPARATION-

Curcumin initially isolated by Vogel and Pelletierin who first described the rhizomes of C. longa in 1815. Vogel Jr. refined it in 1842. After decades of research, Curcumin's framework was reported by Milobedeska *et al.* in 1910. Curcumin was successfully synthesised by Lampe and Milobedeska in 1913. It was chromatographically separated and quantified by Srinvansen in 1953. An essential step in removing the biologically active substance from the matrix of the plant extracting the curcumin. Inaccessible chemicals are left behind throughout the extraction procedure when particular mixtures were utilised through the line with predefined process. It is possible to extract curcumin by both traditional and cutting-edge methods. Many researchers have used novel techniques for extraction like ultrasonography to aid in the extracting procedure, extraction using a microwave, extraction using enzymes, extraction using supercritical fluid, and pressurised the removal of liquids in place of traditional methods for extraction like extraction of solvent and extraction of Soxhlet because they need less period of time, Energy, cooling water, and organic solvents [20].

Table. 4 Techniques, approaches, and circumstances regarding obtaining the ingredient curcumin omega-3 fatty acids [21-22]

Approaches / Methods	Circumstances along with Concepts	Source of Extraction
S.A.S. stands for Antisolvent agent Supercritical Solution	Carbon dioxide becomes supercritical.	Dried root systems from both China and India, as well as readily accessible saffron liquefied extraction
Vortex-aided deep eutectic solvent (D.E.S.)	Emulsification liquid-liquid micro -extraction	Turmeric liquid extract obtained commercially
Liquid-liquid microextraction	Aqueous two-phase extraction with imidazolium and ultrasound	Dried rhizomes obtained from the market and power obtained economically
Ultrasound-assisted ionic liquid dispersion	Liquid micro-extraction	A commercial mixture of curcuminoids
Environment-responsive long-chain acid (C7-C14)	Supramolecular extraction	Power obtained commercially
Microwave-assisted extraction	Microwave energy for analyte partitioning	Power obtained commercially
Microwave-assisted extraction	Microwave energy for analyte partitioning	

Fig. 3

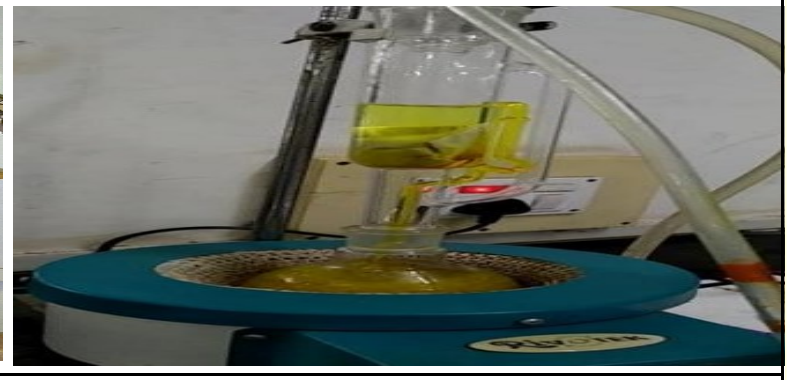

Fig. 4

Fig.5 Extraction process

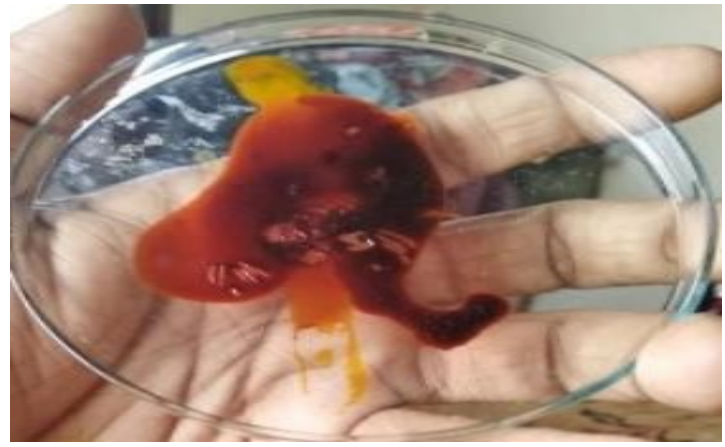

Fig. 6 Extract Isolated

Chemistry of Curcumin

Differentiuloylme-
thane, another name for curcumin, is a polyphenol related to the diarylheptanoids group and has the IUPAC name (1 E,6E).4-hydroxy-3-methoxyphenyl-1,7-bis-1,6 heptadi-
ene3,5dione, has the chemical formula C21H20O6 and a molecular weight of 368.39 g/mol [28].The structure of this symmetrical molecule shows two phenyl rings that have been replaced with a hydroxy gro up in the para position and a methoxy group in the ortho position.

It is simultaneously a polyphenol and a polyketide because the two aromatic rings are joined by a seven-carbon chain that contains an alpha-beta unsaturated diketone component [23]. Ke-
toenol tautomerism is exhibited by the Diketo group, which existed 100% in the enol form in the solid state and pred ominated as an enol in alkaline aqueous solutions. In contrast, the keto form predominates in acidic and neutral solut ions, with the enol accounting for only roughly 30% of all curcumin in the latter, as seen in Fig. 7 [24].

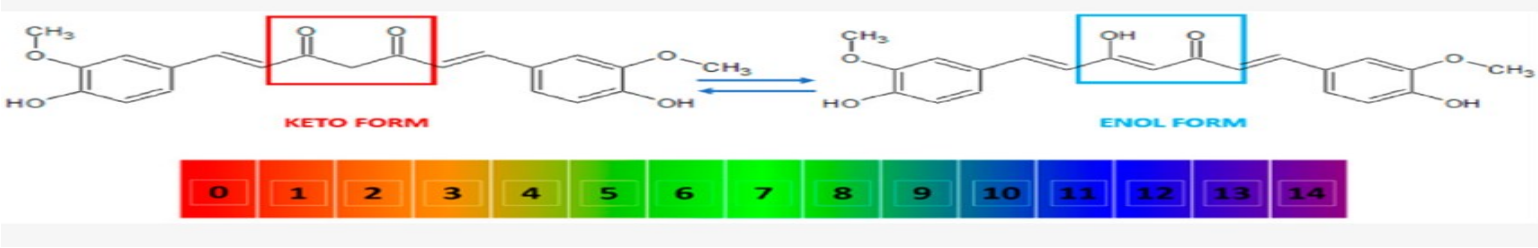

Fig. 7

Table. 5 The Vitamin Content of Turmeric [25]

Ingredients	Value (per table spoon) (14g)
Water	1.6g
Calories	47.8g
Cholesterol	0mg
Protein	3.0g
Fat	11.2
Carbohydrates	33.6g
MINERALS	
Calcium	24.8mg
Phosphorus	36.2mg
Iron	5.6mg
Zinc	0.6mg
Magnesium	26.0mg
Potassium	340mg
Sodium	5.2mgss
Vitamins	
Thiamine	0.0mg
Riboflavin	0.0mg
Vitamin C	3.4mg
Vitamin A	0.0IU
Folate	5.2mcg
Choline	6.6mg

Table. 6 The nutrients in each 100g of (turmeric) saffron [26]

Calories 354kcal	Dietary Fiber 21g	Vitamin C 25.9mg	Vit. B2 (Riboflavin 0.233mg
Energy Value 1481kj	Sugars 3g	Iron 41.42mg	Vitamin E 3.1mg
Total Fat 9.88mg	Sodium 38mg	Calcium 183mg	Vit. B3 (Niacin) 5.14mg
Protein 8g	Potassium 2525mg	Copper 0.603mg	Vitamin B6 1.8mg
Carbohydrates 65g	Zinc 4.35mg	Magnesium 193mg	Vit. B1 (Thiamine) 0.152mg

Curcumin, Turmeric, & Fitness: Curcumin has a broad spectrum of natural actions as shown in fig.1 and has many medicinal uses [27-32].

Using turmeric to treat dental issues	• **Curcumin water**, it is a fast remedy for sore lips which is prepared by boiling two dried guava leaves, 5 grams of turmeric powder, and two cloves in two hundred grams of water. • To reduce pain and suffering, crushed and roasted curcumin is applied to aching teeth. • The gums and tooth enamel get stronger when roasted curcumin pieces and bishop's weed seed powder is applied & cleaned. • Using a paste consisting of one teaspoon turmeric, one tablespoon sodium chloride, along with one teaspoon mustard oil frequently relieves periodontitis and gingivitis. Twice daily, apply this paste to your gums and teeth.
Using Turmeric for Cosmetics	• Cosmetology uses curcumin extensively. On their wedding night, Indian ladies and grooms alike are covered with turmeric. It smooths, reduces inflammation, treats, and prevents skin conditions including pimples, acne, blackheads, and blemishes. • all while giving the skin a gorgeous golden shine. s
Using Turmeric which lowers stomach acid GIT effect	• The use of turmeric may cause some medications to work differently, producing more stomach acid. • Esomeprazole (Nexium) • Lansoprazole (Prev acid) • Ranitidine (Zantac) • Cimetidine (Tagamet)
Using Turmeric as antiviral agent	• As an antiviral agent, curcumin is also very essential. It inhibits the transcription of the BamH fragment z left frame 1 protein, which is a major activator of the Epstein-Barr virus in RajiDRLUC cells. • It additionally hinders the expression of the HIV gene, which is triggered by UV light. Plants are of scientific interest because they are a rich source of phytochemicals with a variety of biological fun ctions, including antiviral qualities.
Using Turmeric as Anticancer Agent	• One alternative cancer treatment that is being advocated is turmeric. Turmeric contains a compound called curcumin, which may be able to kill cancer cells in some types of cancer. However, more research is required. Many Asian nations grow turmeric as a spice. • Curcumin's protein targets in tumour cells.
Using Turmeric as Anti-fungal agent	• The regulating fungal aspect of turmeric and curcumin associated fungi and spoiling agents. Curcumin intensity is a key factor in preventing the growth of fungi. • In plant tissue culture, turmeric powder at concentrations of 0.8 and 1.0 g/L has demonstrated strong inhibitory activity against fungal infections. Antifungal activity against Candida albicans and Cryptococcus neoformans was shown by the turmeric methanol extract, with minimum inhibitory concentrations (MIC) of 128 and 256 µg/mL, respectively.
Using as Anti-inflammatory agents	• The combination of curcumin and the aromatic oils in the turmeric plant results in powerful anti-inflammatory benefits. • Half of curcumin can be used to treat chronic inflammation when taken orally. demonstrated to be equally effective in treating the acute inflammatory response as cortisone or phenylbutazone. • Rheumatic symptoms are often associated with inflammatory changes in the joints. It addresses the fundamental causes of inflammation as well as its pathological changes. • One of curcuminoids' characteristics is its capacity to inhibit a wide range of molecules, such as phospholipases, leukotrienes, prostaglandins, thromboxane, nitric oxide elastase, hyaluronidase, collagenase, interleukin-12, TNF, and interferon inducible protein. • Pro-inflammatory transcription factors (AP-1 and NF-ĸB) are inhibited. • Lower pro-inflammatory cytokines (TNFɑ, MIP-1a, MCP-1, CRP, PGE2, IL-1b, IL-2, IL-6, IL-8, and IL-2). Reduce the activity of certain enzymes, such as COX-2, 5-lipoxygenase, and -5 Block the production of nitric oxide synthase (NOS) enzymes by inhibiting pathways and mitogen-activated protein kinases (MAPK).

	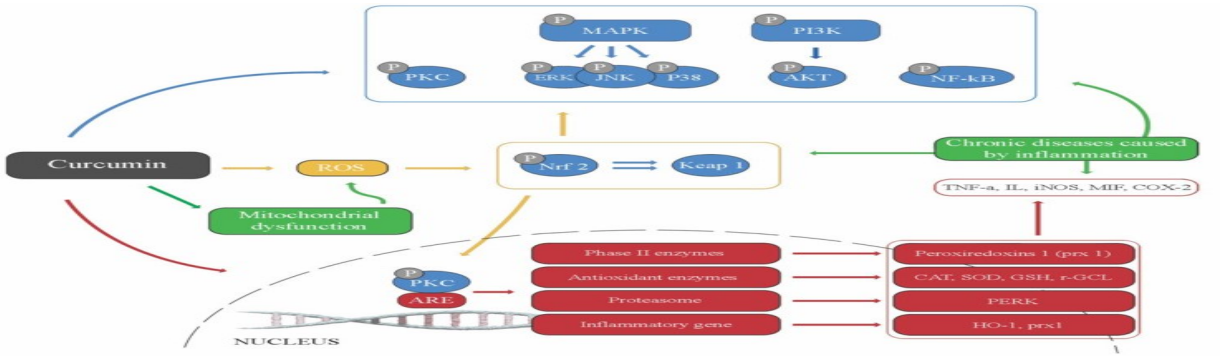
Using as Hepato-protective agent	• The main causes of turmeric's hepatoprotective and reno-protective effects, which are similar to those of silymarin, are its antioxidant characteristics and ability to inhibit the synthesis of pro-inflammatory cytokines (3)–5. • Turmeric's hepatoprotective qualities have been shown in animal studies against a number of hepatotoxic insults, including carbon tetrachloride (TCE), Aspergillus aflatoxin, galactosamine, and acetaminophen (paracetamol). • In rats with acute and subacute liver injury brought on by $CCl4$, it has been demonstrated that giving curcumin considerably decreased liver damage in test animals as compared to controls. • Turmeric extract is very which, when tested on ducklings, reduces the generation of fungal aflatoxin by 90% harbouring an Aspergillus parasitises infection. • It is feasible to prevent and cure cholelithiasis because of the curcumin salt sodium curcuminate, furthermore has choleretic effects via raising.

CONCLUSION-A detailed review of the scientific literature indicates that Curcuma longa, a herbal remedy with a wide range of pharmacological properties, is considered a panacea. As a result of its diverse chemical composition, this plant is considered a multipurpose medicinal herb. Therefore, it is clear that in order to combat the ailments, a great deal of research is required to ascertain their potential for cure.

****

REFERENCES

1. Fuloria S, Mehta J, Chandel A, Sekar M, Rani NN, Begum MY, Subramaniyan V, Chidambaram K, Thangavelu L, Nordin R, Wu YS. A comprehensive review on the therapeutic potential of Curcuma longa Linn. in relation to its major active constituent curcumin. Frontiers in Pharmacology. 2022 Mar 25; 13:820806.
2. Ahmad RS, Hussain MB, Sultan MT, Arshad MS, Waheed M, Shariati MA, Plygun S, Hashempur MH. Biochemistry, safety, pharmacological activities, and clinical applications of turmeric: a mechanistic review. Evidence‐Based Complementary and Alternative Medicine. 2020;2020(1):7656919.
3. Abd El‐Hack ME, El‐Saadony MT, Swelum AA, Arif M, Abo Ghanima MM, Shukry M, Noreldin A, Taha AE, El‐Tarabily KA. Curcumin, the active substance of turmeric: its effects on health and ways to improve its bioavailability. Journal of the Science of Food and Agriculture. 2021 Nov;101 (14):5747-62.
4. Akaberi M, Sahebkar A, Emami SA. Turmeric and curcumin: from traditional to modern medicine. Studies on Biomarkers and New Targets in Aging Research in Iran: Focus on Turmeric and Curcumin. 2021:15-39.
5. Orellana-Paucar AM, Machado-Orellana MG. Pharmacological profile, bioactivities, and safety of turmeric oil. Molecules. 2022 Aug 9;27(16):5055.
6. Razavi BM, Ghasemzadeh Rahbardar M, Hosseinzadeh H. A review of therapeutic potentials of turmeric (Curcuma longa) and its active constituent, curcumin, on inflammatory disorders, pain, and their related patents. Phytotherapy Research. 2021 Dec;35(12):6489-513.
7. Zhu Z, Chen J, Chen Y, Ma Y, Yang Q, Fan Y, Fu C, Limsila B, Li R, Liao W. Extraction, structural characterization and antioxidant activity of turmeric polysaccharides. Lwt. 2022 Jan 15;154:112805.
8. Jyotirmayee, B.; Mahalik, G. A review on selected pharmacological activities of *Curcuma longa* L. *Int. J. Food Prop.* 2022, *25*, 1377–1398.
9. Kadam JH, Kamble BM. Effect of organic manures on growth, yield and quality of turmeric (Curcuma longa L). Journal of Applied and Natural Science. 2020 May 14;12(2):91-7.
10. Nandhini DU, Janaki P, Venkatesan S, Senthilraja K, Somasundaram E, Meena S. Assessing changes in soil quality indicators, turmeric (Curcuma longa L.) yield, and monetary returns under different years of organic nutrient management. Organic Agriculture. 2023 Sep 1;13(3):443-60.
11. Harisha CB, Meena KK, Rane J, Halli HM, Manjanna BK, Patil BS, Chaudhary A, Naik V, Sorty AM. Bacterial derived biopolymer to alleviate nutrient stress and yield enhancement in turmeric (Curcuma longa L.) by mediating physiology and rhizosphere microbes on poor soils of semi-arid tropics. Archives of Agronomy and Soil Science. 2023 Nov 10;69(13):2645-62.
12. Sontsa-Donhoung AM, Bahdjolbe M, Nekou GN, Tadjouo IK, Nwaga D. Growing Curcuma longa for rhizome production on diverse arable soil types in Cameroon: agronomic and microbial parameters. Agricultural Sciences. 2021 May 14;12(5):464-80.
13. Tripathi SK, Sharma B, Ray R, Raha P, Denis AF. Performance of turmeric and soil moisture depletion pattern under different water regimes and nutrient sources at New Alluvial Zone of Indo-Gangetic Plains, India. Communications in Soil Science and Plant Analysis. 2018 May 15;49(9):995-1008.
14.

15.Temteme S, GutaAmente MW, Yaziz B. Establishment of Stability Indices and Rates of Compost Application for Turmeric (Curcuma domestica) on Nitisols of Yeki District, Southwest of Ethiopia. Results of Natural Resources Management Research. 2020.
16.Prajapati SK, Mishra G, Malaiya A, Jain A, Mody N, Raichur AM. Antimicrobial application potential of phytoconstituents from turmeric and garlic. Bioactive natural products for pharmaceutical applications. 2021:409-35.
17.Singh S, Sahoo S, Dash S, Nayak S. Association of growth and yield parameters with bioactive phytoconstituents in selection of promising turmeric genotypes. Industrial Crops and Products. 2014 Dec 1; 62:373-9.
18.Singh I, Madan VK. Effect of moisture levels on various phytoconstituents of turmeric (Curcuma longa L.). Journal of Pharmacognosy and Phytochemistry. 2019;8(1):1427-32.
19.Jyotirmayee B, Nayak SS, Mohapatra N, Sahoo S, Mishra M, Mahalik G. Bioactive compounds and biological activities of turmeric (Curcuma longa L.). InBioactive Compounds in the Storage Organs of Plants 2024 Mar 31 (pp. 395-423). Cham: Springer Nature Switzerland.
20.Kaur S, Chauhan PN, Hamid JU, Kaur S, Sharma Y. Phyto pharmaceutical advances on black turmeric as a functional herb. Current Nutrition & Food Science. 2024 Feb 1;20(2):131-42.
21.Kanglom C, Singh YA, Singh SH. Evaluation of Phytochemical Constituent, Antioxidant Activity and Anti-Bacterial Activity of Black Turmeric (Curcuma caesia Roxb.). Environment and Ecology. 2024 Apr;42(2B):821-7.
22.Prajapati SK, Mishra G, Malaiya A, Jain A, Mody N, Raichur AM. Antimicrobial application potential of phytoconstituents from turmeric and garlic. Bioactive natural products for pharmaceutical applications. 2021:409-35.
23Lavudya S, Patel MP, Kumar S, Singh A, Sakure AA, Pandya M. Identification of elite genotypes through morpho-biochemical and molecular characterization of turmeric (Curcuma longa L.). South African Journal of Botany. 2024 Mar 1;166:161-8.
24.Roney M, Huq AM, Rullah K, Zamri NB, Mohd Aluwi MF. Curcumin, a bioactive compound of Turmeric (Curcuma longa) and its derivatives as α-amylase and α-glucosidase inhibitors. Cell Biochemistry and Biophysics. 2024 Aug 8:1-9.
25.Hasan Mujahid M, Upadhyay TK, Upadhye V, Sharangi AB, Saeed M. Phytocompound identification of aqueous Zingiber officinale rhizome (ZOME) extract reveals antiproliferative and reactive oxygen species mediated apoptotic induction within cervical cancer cells: an in vitro and in silico approach. Journal of Biomolecular Structure and Dynamics. 2024 Nov 21;42(17):8733-60.
26.Bharadwaj B, Sanathanam SK, Pham T, Cantrell CL, Wang M, Lee J, Mentreddy SR, Basu C. Physiological and Biochemical Responses of Turmeric (Curcuma longa L.) Under Drought Stress. Journal of Medicinally Active Plants. 2024 Sep 30;13(2-3).
27.Sarah R, Idrees N, Tabassum B. Phytoconstituents and their Therapeutic Potential in Precision Medicine. Precision Medicine and Human Health. 2024 Jun 3:394.
28.Kholif AE, Olafadehan OA, Gouda GA, Fahmy M, Morsy TA, Ammar H, Hamdon HA, Chahine M. Turmeric rhizomes reduced in vitro methane production and improved gas production and nutrient degradability. Animal Biotechnology. 2024 Oct 31;35(1):2371519.
२९.Allabaksh S, Senthilraj R. A quantitative HPLC analysis of phytoconstituents and assessment of antioxidant properties of the rhizome of Curcuma angustifolia ROXB. Rasayan Journal of Chemistry. 2024 Apr 1;17(2).
30.Pathak A, Soni N, Panday AR. A short review of the incredible therapeutic plant, Aloe vera. J Pharm Adv Res, 2024; 7(7): 2283-2291.Pathak, A., Soni, N., Mishra, B., Pandey, D. D., Kumar, P., Verma, P., ... & Verma, D (2024) Environmental Epigenomics and New Trends in the Developmental Causes of Diabetes Mellitus.
31.Pathak, A., Soni, N., Pandey, D. D., & Verma, D. (2023). Recent Advances, Future Challenges, Sar And Antimicrobial Activities Of Isatin: A Breaf Review. *Journal of Pharmaceutical Negative Results*, 7285-7307.
32.Ashutosh Pathak, Pavan Kumar, Kritika Shukla, Riya Vissen, Khushi Verma, Sanskar, Yash Giri, Ayush Tiwari, Aabhash shukla, Anuj Yadav, An Overview of Zingiber officinale as an Essence of Life and Therapeutic Applications, Journal of Science Innovations and Nature of Earth Vol.4, Issue4,2024, Page 01-07, SSN (Online) 2583-2093. DOI: https://doi.org/10.59436/jsiane.267.2583-2093.
३३.Pathak, A., Soni, N., Pandey, D. D., & Verma, D. (2023). Recent Advances, Future Challenges, Sar And Antimicrobial Activities Of Isatin: A Breaf Review. *Journal of Pharmaceutical Negative Results*, 7285-7307.

Importance of Veer Bal Diwas in Modern India

Saurabh Shubham
Subject- History
Research Scholar (Junior Research Fellow) , PhD Scholar from University of Hyderabad

Veer Bal Diwas falls on 26 December every year, reminding everyone of the unmatched bravery and sacrifice made by the Sahibzades-sons of the tenth Sikh Guru, Guru Gobind Singh Ji. This day marks the martyrdom of Baba Zorawar Singh Ji and Baba Fateh Singh Ji, who were 9 and 6 years old, respectively, and showed extremely courage and unrivaled devotion to their religion and philosophy in the face of tyranny. Veer Bal Diwas speaks profoundly for today's social and cultural ethos of India.

Preserving Heritage and Values- India is that land which epitomizes the history of valor and sacrifice where thousands of people have stood up against oppression to fight for justice and humanity. Veer Bal Diwas presents a link between young Indians and their glorious inheritance of valour. By commemorating the Sahibzades' sacrifices, the commemoration event fills Indian historical resilience with pride while strengthening values such as integrity, fearlessness, and dedication to causes.

In an age characterized by globalization and rapid modernization, events like these assume the importance of fostering in younger generations a sense of identity and belonging. It helps keep tales of martyrdom and valour alive; thus instilling in the youth a longing to become rooted in their culture.

Unity Secularism-Veer Bal Diwas is an interfacing event that transcends across religious boundaries and is rather one of universal values: justice, sacrifice, and courage. The principles of vision from Guru Gobind Singh Ji and the martyrdom of Sahibzades transcend all levels of communities for unity and mutual respect. Observing this day on a nationwide scale reaffirms India's commitment to a secular and inclusive ethos by reminding its citizens of the shared values that bind them as a nation.

Inspiration for Youth- In the world today, where the incidences of moral dilemma challenges, peer pressure, and societal distractions are what keeps youths on the wrong path, the story of the Sahibzades stands as a very strong example to stand tall to one's beliefs, no matter the circumstance. It stands as a call to the younger generation to make principles weigh heavier than convenience, courageousness weigh heavier than fear, and to serve rather than indulge in self-interest. Veer Bal Diwas encourages introspection, urging the youth to emulate these values in their personal and professional lives.

Relevance in Social Justice-

Sahibzades' resistance against injustice in the Mughal times represents a voice for all ages that has to be perpetrated against oppression and inequality.

In India, today, wherein society is facing multifaceted issues like inequality, intolerance, and systemic injustices, Veer Bal Diwas calls for the sustenance of the principle of resistance against any form of tyranny, thereby guaranteeing a just and equitable society.

Role of Government in Commemoration-

The observance of Veer Bal Diwas by the Government of India is an acknowledgment of the value attached to the celebration of historic persons who epitomize sacrifice and courage. This ensures that their legacy survives in the country's mind and memory. Opportunities for learning and reflection on the ideals of Sahibzade come through various channels, such as school education, cultural programs, and awareness campaigns on this day.

Conclusion-

Veer Bal Diwas is a day of remembrance, but it is much more than just a day: it represents India's long-striding and conscious spirit of courage, justice, and resilience. Through the honoring of Baba Zorawar Singh Ji and Baba Fateh Singh Ji, the nation not only bows to its past but also constructs for its future generations a moral compass. It is also a reminder that real heroism lies in standing firm for truth and righteousness, no matter the cost.

****

A Study of Principal's role in School Effectiveness

Dr. Mohan Lal 'Arya'
Professor
School of Education and Humanities
IFTM University, Moradabad
Email Id: drmlarya2012@gmail.com
Orcid ID: 0000-0001-5424-8819

Abstract: -This presents paper and interprets data gathered to investigate the general question 'What can school principals do to foster school effectiveness?' More particularly, it probes Moradabad Secondary school teachers' opinions about what principals could or should do to increase the effectiveness of their schools. It also analyses differences associated with demographic variables. In general, it was found that participants thought principals could improve a school's effectiveness most by developing an open climate and making sure that appropriate resources are available for instruction. There were many parallels between the findings and extant understandings recorded in the literature. One notable exception emerged in the participants' attitudes regarding the role of the community.

Key Words: Principal, Administrator, Organisational, Effectiveness.

Introduction: Organizational effectiveness receives considerable attention in the theoretical and research literature about school management. Generally, the information addresses two fundamental objectives: to compare the educational results of various schools and to identify the factors that characterise more effective schools. In the final analysis, the end objective is to understand how schools can maximise students' progress. In this way: What is of interest to most planners is the identification of factors or variables that enhance learning in all schools, irrespective of the background of the children that attend them. School effectiveness, though, can be a confusing topic. A major reason is that there are ambiguities in the associated theory and research. One difficulty is that effectiveness has been defined in many ways. Here we provide only an indication of the variation. At the most general level, Mortimore, Sammons and Thomas (1994) posit that a school is effective when its students perform better given the opportunities and the education they receive. In addition to high student academic achievements, this profile of the effective school includes attainments in school and classroom leadership; giving voice to students; integration of curriculum, teaching and learning; the design of programmes and pathways for students; and collaboration of home, school and community.

This variability in the way effectiveness is defined means that one has to be careful when interpreting and using information about school effectiveness.

The research data we report and analyse in this article were gathered to cast light on the general question 'What can school principals do to foster school effectiveness?' More particularly, the research investigated how principals in Greece could or should increase the effectiveness of their schools, for little is known about organisational climate and school effectiveness in Moradabad schools. This secondary analysis of the data is designed to provide base line information that may be useful to researchers, educators and policy-makers at both the national, state and local levels, as they work to improve the Indian education system. Also, it may provide useful guidance for similar investigations in other areas of Moradabad that could contribute to broader insights into cultivating school effectiveness and, possibly, how school climate and culture relate to school effectiveness. Finally, it provides useful information about a tool for identifying conditions that contribute to school effectiveness.

The Nature of the School Climate: The climate of an organisation, first of all, arises from the relatively stable conditions that characterise an organisation (Schein 1985; Sergiovanni & Starratt 2002; Rafferty 2003; Hoy & Miskel 2008). It has often been likened to the personality of an organisation (Halpin 1967; Hoy & Miskel 2008). Second, climate does not refer to tangible phenomena in the objective world - it refers instead to how all the members of a school - administrators, teachers, students and other stakeholders - perceive the school (Schneider, Wheeler and Cox 1992; Ekvall and Ryhammar 1999; Rafferty 2003; Lunenburg & Ornstein 2004; Hoy & Miskel 2008). Third, organisational climate is multidimensional; that is, it is the product of interactions among several classes of internal characteristics. For example, Tagiuri (1968) and Owens (2004) contend that four clusters of factors contribute to organisational climate: ecological factors, milieu factors, social system/ organisational factors and cultural factors.

Principals' Activities that are Associated with School Effectiveness:- In the literature considerable attention has been devoted to teachers' roles in the improvement of school effectiveness but it also includes a large body of information about the roles that principals play. Much of this pertains to the skills and knowledge that principals require for supporting and improving education, though often the distinction between skills and knowledge is not maintained sufficiently.

According to Koontz and O' Donnell (cited in Saitis 2000), leadership involves the art and the process of influencing individuals so that they collaborate willingly to achieve common objectives. It entails four basic abilities: to respond to how individuals are motivated in different situations by different factors, to inspire and guide the members of the organisation, to create a suitable climate, and to articulate and support clear objectives. On the other hand, Reynolds and Teddlie (2000) maintain that five elements characterise an effective leader: stability, commitment to involving others, being instructive, providing frequent and personal control, and recruiting and replacing suitable personnel.

Another perspective was advanced by Everard & Morris (1999). They maintained, first of all, that the effectiveness of a school depends on the principal collaborating with the teaching staff to achieve a common and explicit vision, a timetable that is faithful to the official programme of study, and frequent evaluations of students' progress with a view to improving the programme of study and students' achievements. Second, they said that the principal of an effective school has a specific administrative plan of action, is reliable, creates a climate of respect, has the ability to set clear objectives and to realise them, demonstrates flexibility, and undertakes initiatives. Furthermore, she or he shows confidence, manages the school finances efficiently and effectively, counsels students and imposes discipline, has the ability to influence the members of school community and to lead them to positive results, builds a collection of robust information, and collaborates with students, parents, all school personnel and people in other institutions.

Characteristics of the Principal: The system for the administration of education in Moradabad is highly centralised, and a school's principal is low in the bureaucratic hierarchy of administration. However, this does make the principal simultaneously a key gatekeeper and a vital communication channel to the other levels of the hierarchy. Notwithstanding the potential influence that could flow from this, in both the primary and secondary sectors, few responsibilities are devolved to managers and leaders at the local or the school level. Thus in Moradabad schools the Principal's discretion in administrative matters is severely constrained. There are many laws and regulations about the organization and administration of school that describe and prescribe precisely how schools are to be operated, leaving very few decisions in the hands of the principal. Indeed, the Indian education system is the epitome of systems that do not allow the distribution of administrative power and authority to the lower levels; power is limited to the upper administrative levels.

On the one hand the literature suggests quite clearly that principals can influence school effectiveness - albeit indirectly - by way of the school climates they develop. On the other hand, there is some ambiguity concerning the particular activities that are associated with greater school effectiveness. One question that warrants investigation, then, is 'What can principals' best do to promote school effectiveness?' Furthermore, since principals' influence on effectiveness is mediated by school climate - which is a function of school members' perceptions - this question could be addressed with audits of teachers' perceptions and conclusions.

Research Design

Objectives and Research Questions: The data presented here come from a study to investigate the opinions of secondary school teachers concerning the contribution of the school principal to the effectiveness of the school. Two questions guided the investigation:

I. Which duties and initiatives of the principal do the teachers perceive to be important in the improvement of the school's effectiveness?
II. Do teachers' opinions regarding the Principal's role in improving school effectiveness vary in relation to gender, experience, type of school and the level of education?

Population and Sample:- The teachers surveyed constituted a convenience sample of 109. Accordingly, the findings of the survey cannot be generalised.

Research Method: Data were collected in a school prefecture in Moradabad District. The questionnaire used was constructed and pilot-tested specifically for the study. The questions were derived from the literature about the principals' roles in the improvement of school effectiveness. In the first part of the questionnaire were questions about the demographics of the respondent. In the second part, the items probed the respondent's perceptions of the contributions that the school Principal made to the school's effectiveness.

Principal's Activities that Promote School Effectiveness: In the means and standard deviations for the questionnaire items are presented. For now we want to limit thediscussion to the means and standard deviations, which are arranged in descending size of the means.

The shading of rows will be taken up later, in the discussion section of this paper. First, the teachers saw all of the activities referenced in the questionnaire as quite important to very important, the lowest mean being 3.95. Second, as the standard deviations show, the greatest differences in the teachers' opinions were associated with items 18, 22 and 19, which referenced the activities that these teachers also considered least important to the improvement of school effectiveness. These teachers were least in agreement about the utility of promoting variety in the methods to evaluate students' achievements, or involving community members in the governance of the school. Third, it seems the participants thought that the school principal could improve the school's effectiveness most by working to develop a good school climate and then making sure that appropriate resources are available for instruction. The level for improving school effectiveness - assuring resources for quality teaching, Assigning teachers to appropriate duties, ensuring a good supply of teaching resources, clarifying curricular requirements and constructing a supportive timetable.

Findings of the Study:

In the present study 43 percent of the participants were men and 57 percent were women. 32 percent of all these teachers were aged 31-40 years, while another 33 percent were 41-50 years old. Fewer participants were in the under -30 and 51 age-groups, 18 percent and 19 percent respectively. Thus, senior teachers (41+ years) constituted 52 percent of the sample. As to teaching experience, a large number majority of the participants had between 1 and 15 years of experience in which 28 percent had 1-5 years of experience, 32 percent had 6-10 years under their belts, 20 percent had 11-15 years of experience, and 6 percent had 16-20 years. A small proportion of these teachers had 21-25 years 8 percent. At the upper end of the experience continuum were a small number (11, 10 percent) who had over 25 years of experience. 40 percent of the participants worked in Secondary schools and 32 percent worked in senior secondary schools. As to highest academic qualification attained, 66 percent of the teachers had a bachelor's degree, 11 percent had a second degree, while 19 percent had a post graduate degree. Just under 4 percent of the teachers had a doctorate. Before leaving the sample's demographics, we will comment on the experience data. The distribution of experience was decidedly skewed towards the low end of the scale. Fully 60 percent of the teachers in the sample were relatively low on experience: 28 percent with 1-5 years of experience, 32 percent with 6-10 years. In contrast, of the teachers towards the other end of the experience continuum, a relatively small 18 percent had more than 20 years of experience.

Conclusion: Now to a consideration of how the results of the study relate to extant understandings about the roles of school principals in school effectiveness. We will centre the discussion on the findings in general, school leadership, the management of school culture and climate, and demographics-related differences in teachers' opinions about principal activities that promote school effectiveness. In many ways the findings parallel the results of other research that looked into educators' perceptions concerning the improvement of school effectiveness. By way of illustration we present the essence of only one such investigation, a study of five effective schools in England (Kimber 2003). In those schools leadership was focused on maximising learning, in both vision and actual practices and activities. In those schools leaders supported justified risk-taking by teachers, responded to individual needs and emphasised collaboration. In those schools the staff felt that the principal heard them, appreciated them and developed positive interpersonal relations with humour and timely praise. And, finally, in those schools the principal used a variety of leadership strategies, including distribution of responsibilities and leadership roles, and facilitating professional growth activities. These factors parallel those considered important by the teachers in the findings reported here.

First, as noted above, the teachers saw all of the activities referenced in the questionnaire as quite important to very important, the lowest mean - a fraction below the transition between the 'quite important' and 'very important' sectors on the questionnaire's response scale. We think this may be a proxy indicator of a belief that a school's principal plays a significant role in determining a school's effectiveness.

Second, although the teachers assigned the highest level of importance to good management of decision-making, they rated the use of a participative approach to decision-making lower in importance. One has to wonder whether this is an indication of support for a directive style of leadership and/or simply a reflection of habituation to the centralized system of governance of schooling in Moradabad.

Third, if the teachers' responses are indicative of their ideals, the data suggest a preference for the school's director to take a transformational approach to leadership. This possibility is grounded in the high importance that the respondents attached to the Principal having a strong vision for the school and promoting it among teachers, showing confidence in teachers, emphasising the importance of engaging regularly in professional development, working to build good

interpersonal relations with and among staff, and maintaining open communications with teachers. When a director enacts this kind of leadership, the behaviours are perhaps not as important as the principles they reflect and communicate to others. In this, they constitute transformational leadership. The result of this is that teachers perform beyond expectations and help make their schools more effective.

Fourth, patterns in the data seem to indicate that the participating teachers saw the factors referenced in the questionnaire as relating to three issues: inclusion, climate for teaching and learning, and quality control. This involves giving everyone the opportunity to participate in decision making. It also involves the creation of an environment characterised by structures that support and promote active participation by teachers, students and parents. The factors in this class are mentioned frequently in the literature on school effectiveness. There is a clear consensus among researchers that a school is more likely to be considered productive and effective when the individuals who are involved with it school community, teachers, students and parents are given proactive roles rather than being relegated to just reacting to initiatives by third parties. The integrating factor, these authors posit, is good alignment of the objectives and values that drive the behaviours of teachers, parents and students.

A recent review of theory and literature related to school effectiveness indicated that earlier works reflect the belief that there is a direct relationship between the administrative activities and skills of school principals and school effectiveness. The research findings we discuss in this paper support current understandings. Through a number of questionnaire items, the participating teachers expressed the opinion that the activities of a school's principal are important in the creation of a positive climate and, in turn, the improvement of school effectiveness. Specifically, they attributed the highest levels of importance to: managing decision-making and problem-solving well, creating an atmosphere of collaboration and trust among students and teachers, believing strongly in the importance of developing a climate of collaboration, professional behaviour and open communication among teachers and between teachers and the administration, and nurturing a good school climate.

References:

1.Brophy, J. (1982), Successful Teaching Strategies for the Inner-City Child, Phi Delta Kappan 63: 527-530.
2.Brundrett, M., Fitzgerald, T. & Sommefeldt, D. (2006), The Creation of National Programmes of School Leadership Development in England and New Zealand: A Comparative Study, International Studies in Educational Administration 34(1): 89-105.
3.Creighton, T. (1999), Spirituality and the Principalship: Leadership for the New Millennium, International Electronic Journal for Leadership and Learning 3(11).
4.Edmonds, R. (1982), Programs of School Improvement: An Overview, Educational Leadership 40(3): 4-11.
5.Ekvall, G. & Ryhammar, L. (1999), The Creative Climate: Its Determinants and Effects at a Swedish University, Creative Research journal 2(4): 303-310.
6.Everard, K. & Morris, G. (1999), Effective School Management, London: Paul Chapman.
7.Finegan, J.E. (2000), The Impact of Person and Organizational Values on Organizational Commitment, journal of Occupational and Organizational Psychology 73(2): 149-170.
8.Good, T.L. & Brophy, J.E. (1991), Looking in Classrooms, 5th edn, New York: Harper-Collins.
9.Hallinger, P. & Heck, R.H. (1998), Exploring the Principal's Contribution to School Effectiveness: 1980-1995, School Effectiveness and School Improvement 9(2): 157-191.
10.Halpin, A.W. & Croft, D.B. (1962), The Organizational Climate of Schools, Washington, DC: USOE.
11.Halpin, A.W. (1967), Theory and Research in Administration, New York: Macmillan.
12.Hopkins, D., Ainscow, M. & West, M. (1994), School Improvement in an Era of Change, New York: Cassell.
13.Hoy, W.K. & Miskel, CG. (2008), Educational Administration: Theory, Research, and Practice, 8th edn, New York: McGraw-Hill.
14.Kimber, M. (2003), Does Size Matter? Distributed Leadership in Small Secondary Schools, Summary Practitioner Report, Nottingham: National College for School Leadership.
15.Krüger, M., Witziers, B. & Sleegers, P. (2007), The Impact of School Leadership on School Level Factors: Validation of a Causal Model, School Effectiveness and School Improvement 18(1): 1-20.
16.Lazaridou, A. (2009), The Kinds of Knowledge Principals Use, International journal of Education Policy & Leadership 4(10). .Leithwood, K., Jantzi, D., Earl, L., Watson, N., Levin, B. & Fullan, M. (2004), Strategic Leadership for Large-Scale Reform: The Case of England's Numeracy and Literacy Strategy, School Leadership and Management 24(1): 57-79.
17.Mortimore, P. (1998), The Road to Improvement: Reflections on School Effectiveness, Lisse: Swets and Zeitlinger.
18.Mortimore, P., Sammons, P & Thomas, S. (1994), School Effectiveness and Value Added Measures, Assessment in Education: Principles, PoUcy & Practice 1(3): 315-332.
19.OECD (2010), PISA 2009 Results: What Makes a School Successful? Resources, Policies, and Practices. Volume IV. Paris: OECD. Retrieved from www.oecd.org document/35/0,3343,en_2649_35845621_46609827_1_1_1_l,OO.html (accessed on 27 July 2011).
20.Ontario Ministry of Education (2010), The K-12 School Effectiveness Framezvork: A Support for School Improvement and Student Success (Toronto, ON: Queen's Printer for Ontario). Retrieved from 21..www.edu.gov.on.ca/eng/literacynumeracy/framework.html (accessed on 27 July 2011).
22.Owens, R.G. (2004), Organizational Behavior in Education: Adaptive Leadership and School Reform, 8th edn (Boston, MA: AUyn and Bacon).

A STUDY TO ASSESS THE EFFECTIVENESS OF DIGITAL DISCIPLINE PROGRAMME (DDP) AMONG DIGI-NURSES AT SELECTED NURSING COLLEGES AT BHOPAL

UNDER THE GUIDANCE OF
PROF. SONEY TOPPO
MISS PRIYA GUPTA

BY AHERI MITRA, MANISH KUMAR, ROSHNI YADAV, SHIFA BEHNA, SONIKA KUSHWAHA

ABSTRACT:
Digital health has been widely adopted within the Indian healthcare system in recent years. Digital discipline involves acquiring the essential skills and knowledge to influence electronic health records, telemedicine platforms, mobile applications, and other digital solutions effectively in the course of practice among healthcare professionals. Thus, pre experimental one group pre-test post-test approach was adopted to assess the effectiveness of DDP among Digi-nurses. The sample comprised of 60 students studying in selected Nursing College. Non-probability convenient sample technique. Structured knowledge questionnaire was used to assess the knowledge. A planned teaching program was given regarding Digital Discipline Programme with the help of PowerPoint presentation and modules. Pre-test was conducted using structured knowledge questionnaire to assess the knowledge. After 7 days post-test was conducted with the same tools, the findings of the study reveals that the pre-test percentage of knowledge of II-year Digi-nurses regarding DDP (78%) of students with inadequate level of knowledge score, (22%) of students with moderate level of knowledge score. The post-test percentage of II-year Digi-nurses regarding DDP (82.23%) have adequate level of knowledge and (17.77%) have moderate level of knowledge where significantly higher than mean pre-test knowledge score. It is also evident by computed't' test value of inadequate knowledge is ($-12.34, p<0.05$), 't' test value of moderate knowledge is ($-1.23, p>0.05$) and 't' test value of adequate knowledge is ($15.67, p<0.05$) that the structured teaching was highly effective in improving the knowledge and practices of Digi-nurses regarding DDP.

KEYWORDS: Digital Discipline Programme (DDP), Digi-Nurses, Online Safety, Online Reputation, Online Learning and Social Media manager.

INTRODUCTION: As healthcare becomes increasingly digitized, it's more important than ever for nurses to practice digital discipline in their daily work. Digital discipline refers to the ability to manage technology and information responsibly and efficiently.

The importance of digital discipline for digital nurses includes what it entails, its benefits and challenges, practical tips for practicing it, training and education opportunities, real-life case studies, best practices, and more. By the end, one will have a better understanding of how digital discipline can help to become a more effective and efficient digital nurse.

Digital technology has become integral to nurses' and nursing students' predispositions toward technology, which will affect their future use of technology in clinical settings Nursing students see digital technologies in clinical practice in a different light. Digital technology opens up new possibilities for teaching and learning. The use of digital tools to support learning is important to support content delivery and technology usage by students. Thus, it is necessary to prepare future generations of nurses to be active participants in information like communications technology, the digital world, digital reputation, and online safety, rather than just teaching them technical skills regarding these tools.

Therefore, digital discipline is essential in navigating the complexities of the digital age, ensuring productive and responsible engagement with technology while minimizing risks and maximizing benefits across different domains, which include healthcare, education, business, and personal life.

DIGITAL DISCIPLINE:

Digital discipline refers to the ability to effectively manage and utilize digital technologies, tools, and resources in a responsible, organized, and efficient manner. It involves adopting structured practices, adhering to established protocols, and exercising self-control when engaging with digital devices and platforms. It encompasses various aspects, including time management, cyber security awareness, data privacy protection, information literacy, and ethical use of technology.

In the context of healthcare, digital discipline among healthcare professionals involves acquiring the necessary skills and knowledge to leverage electronic health records, telemedicine platforms, mobile applications, and other digital solutions effectively in the course of practice.

OBJECTIVES:

- Assess the pre-test &post-test knowledge score of Digi-nurses regarding DDP of Nursing colleges of Bhopal M.P.
- Find out the significant differences between Pre-test and Post-test knowledge score of Digi-Nurses regarding DDP.
- Find the association between knowledge score of Digi -nurses with selected demographic variable.

REVIEW OF LITERATURE:

Nelson & Staggers, 2018, The Electronic Health Record (EHR) and mobile applications have improved the quality, safety, and efficiency of healthcare. EHR is a complete health record under the custodianship of a healthcare provider(s) that holds all relevant health information about a person over their lifetime, which can be used by many approved healthcare providers or healthcare organizations (CHI, 2018). Tele-health, an application of digital health, is defined as "the use of ICT to support long distance clinical healthcare, patient and professional health- related education, public health, and health administration".

Nagle et al., 2020; Although providing safe, compassionate, competent, and ethical care is one of the primary nursing values as per the CNA Code of Ethics, there are no explicit guidelines for nurses to uphold and preserve compassion in the field of digital health (CNA, 2017). In 2012, the Canadian Association of Schools of Nursing (CASN) developed and approved the Nursing Informatics Entry-to-Practice Competencies for Registered Nurses in Canada (Canadian Association of Schools of Nursing [CASN], 2012). These competencies include the following dimensions: information and knowledge management, professional and regulatory accountability in using digital technologies, and the ability to use various digital health technologies in the delivery of patient care (CASN, 2012). While some of these competency indicators do emphasize nurses' clinical judgment when using the technology and the importance of not allowing the technology to interfere with nurse-patient relationships, the concept of compassion is not explicitly stated in these indicators. This suggests that practicing and future nurses may not be fully prepared to provide compassionate care in the context of digital technology.

Jones et al., 2014, Digital health, or the use of digital technologies for health, has become a salient field of practice for employing routine and innovative forms of Information and Communication Technologies (ICT) to address health needs. The term digital health is rooted in eHealth, which is defined as the use of information technology and electronic communication tools within the delivery of healthcare services (Canada Health Info way [CHI], 2018). Mobile health (mHealth) is a subset of eHealth and is defined as the use of mobile wireless technologies for healthcare services (WHO, 2019). Recently, the term digital health was introduced as "a broad umbrella term encompassing eHealth (which includes mHealth), as well as emerging areas, such as the use of advanced computing sciences in big data, genomics, and artificial intelligence

Lee et al., 2016, Digital health represents a transformational shift in the context, process, and delivery of healthcare. Digital technologies can be leveraged to facilitate the transition toward efficiency and accessibility of healthcare. On the other hand, it has been suggested that the shift toward efficiency in healthcare services poses limitations to the requirements of compassionate practice (CMA, 2011). The provision of care through digital means could lack emotional signals and cues to convey compassionate care that may be present in the traditional in-person encounter (Swinglehurst et al., 2011). To address these transitions in the healthcare systems, the Associated Medical Services (AMS), a Canadian based organization, proposed a strategic plan 2018-2021(AMS, 2018). The goal of AMS is to narrow its strategic focus squarely on compassion in a technological world with three interrelated directions: promoting the education and practice of compassionate care, fostering new models of compassionate care delivery, and facilitating the leadership needed to realize the promise of technology while safeguarding humanistic care in fast-evolving sectors (AMS, 2018).

RESEARCH METHODOLOGY- Quantitative research approach is adopted for this study with Pre experimental one group pre-test post-test design.

E- O 1 X O2

Key:

E – Pre experimental group
O1 – Pre assessment (Pre-test)
X – Nursing intervention (Digital Discipline programme)
O2 – Post assessment (post-test)

The study was conducted at the People's College of Nursing & Research Centre, Bhopal M.P and the variables of the study were independent variable was the structured teaching module on knowledge regarding Digital Discipline programme and dependent variable was the knowledge of the students regarding digital discipline programme. The sample comprised of nursing students of selected Nursing colleges who will be termed as Digi-nurses. 60Digi-nurses who met with the inclusion criteria were included in the study. The

knowledge was assessed using a structured questionnaire regarding digital discipline programme among Digi-nurse. The data was analyzed according to the objectives and hypothesis formulated for purpose of the study using descriptive and inferential statistics.

RESULT & DISCUSSION:

SECTION I: Description of Demographic Variables of Study Participants.

1.Distribution of sample age group

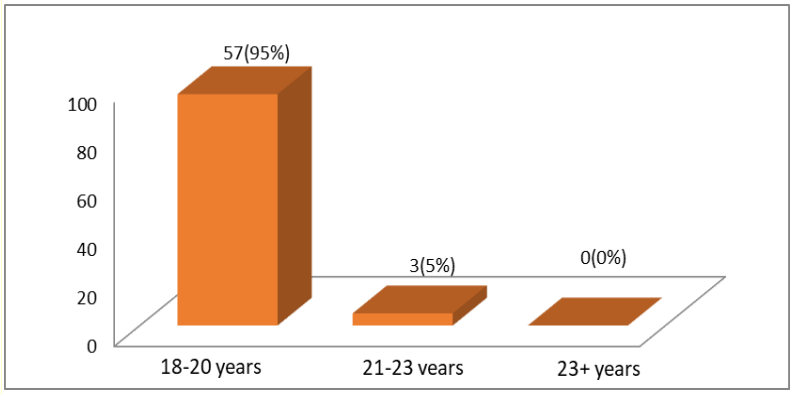

Fig- 4.1: Bar diagram shows distribution of sample age group shows maximum 57 (95%) of the students belongs to age group of 18 – 21 years, 3 (5%) of the students belongs to age group of 21 – 23 years.

2.Distribution of sample according to gender

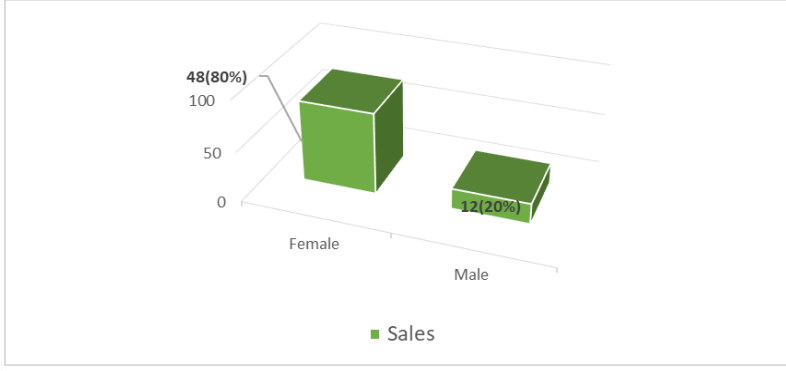

Fig-4.2: Bar diagram shows the distribution of sample according to gender, maximum 48(80%) of student are female and 12(20%) of students are male

3.Distribution of sample according to type of family

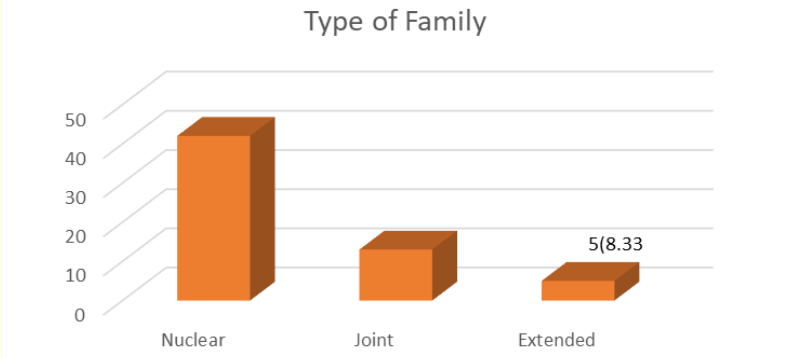

Figure-4.3: Bar diagram shows distribution of sample according to type of family, 42(70%) of student belong from nuclear family, 13(22.22%) of student belong from joint family and 5(8.33%) of student belong from extended family.

SECTION II: ASSESSMENT OF PRE-TEST AND POST-TEST KNOWLEDGE AMONG DIGI-NURSE WITH DIGITAL DISCIPLINE PROGRAMME.

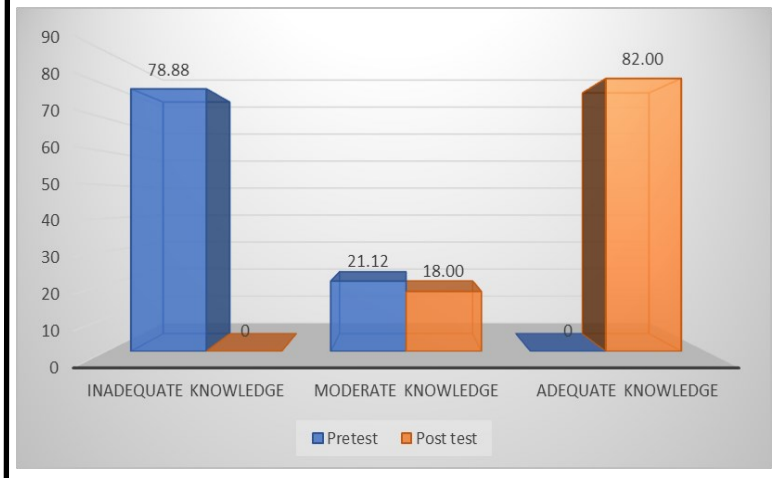

Figure-4.7: Bar Graph showing percentage of Pre-test and post-test level of knowledge

Before STP, 78.88% of the students are having inadequate level of knowledge score, 21.12% of them having moderate level of knowledge score and none of them are having adequate level of knowledge score.

After STP, none of the students are having inadequate level of knowledge score, 18.33% of them having moderate level of knowledge score and 82.23% of them are having adequate level of knowledge score.

SECTION III: COMPARISON OF PRE-TEST AND POST -TEST LEVEL OF KNOWLEDGE SCORE AMONG DIGI -NURSE REGARDING DIGITAL DISCIPLINE PROGRAMME

Table-4.6: Comparison of Pre-test and post-test Level of Knowledge Score

Knowledge Level	Pretest %	Post-test %	Difference	t-Test Value	p-Value
Inadequate	78.88%	0.00%	-78.88%		
Moderate	21.12%	17.77%	-3.35%		
Adequate	0.00%	82.23%	82.23%		
Total	100.00 %	100.00 %		15.67	<0.001

***very high significant at p<0.001 level

Above table shows the pre-test and post-test level of knowledge among students calculated using t test. The t-test value for adequate knowledge is 15.67. The p-value associated with this t-test value is less than 0.05. Therefore, we reject the null hypothesis.

Overall, the paired t-test indicates that the intervention had a significant impact on knowledge levels, particularly for inadequate and adequate knowledge.

*H1- hypothesis is accepted thus there is significant difference in knowledge levels between pre-test and post-test knowledge

SECTION IV: ASSOCIATION BETWEEN STUDENTS KNOWLEDGE AND SELECTED DEMOGRAPHIC VARIABLES

Table 4.8: F-statistic results for each demographic variable N=60

Demographic variables		Knowledge gain score						n	One way ANOVA F-test
		Pretest		Posttest		Gain score=post-pre			
		n	%	n	n %	N	n %		
Age of the students	18-20 years	17.79	3.14	32.73	3.78	14.94	4.78	56	F=1.23 P=0.22 (NS)
	21-23 years	21.00	3.74	33.00	4.55	12.00	2.00	4	
	23+ years	0.00	0.00	0.00	0.00	0.00	0.00	0	
Gender	Male	18.15	3.52	34.84	3.86	16.69	5.59	12	**F=2.04 P=0.05* (S)**
	Female	17.84	3.10	32.32	3.82	14.48	4.46	48	
Type of family	Nuclear	17.70	3.25	34.77	3.83	17.07	4.99	33	**F=3.47 P=0.04* (S)**
	Joint	19.70	2.54	34.25	3.80	14.55	3.99	20	
	Extended	15.00	1.63	27.59	4.15	12.59	4.23	7	
Region	Rural	17.50	3.74	34.31	3.68	16.81	5.21	26	F=0.92 P=0.47 (NS)
	Urban	18.84	3.59	33.48	4.35	14.64	5.11	34	

NS=Non-significant, S=Significant P>0.05 Non-significant *P≤0.05significant
**P≤0.01highlysignificant

The finding from the table indicates that the gender and family type impact knowledge gain scores, while age and region do not. Thus H2- hypothesis is accepted for gender & type of family that is significant between knowledge level of Digi-nurses and selected socio demographic variables at p <- 0.05 whereas H2 is not significant for age & region p >0.05.

DISCUSSION

The findings of the study revealed that the level of knowledge of 2nd year Digi-nurses regarding DDP has increased from 78% of students having inadequate level of knowledge, 22% having moderate level of knowledge to 82.22% having adequate level of knowledge, 18.33% having moderate level of knowledge. Similar findings are reported by

- The findings were supported by study conducted to assess the knowledge regarding DDP among Digi-nurses at Kathmandu by Shrestha (2008), it reported that 56% of nurses are highly knowledgeable and 44% of nurses are with average knowledge.
- Ogunfowora. O (2006) a study to assess the knowledge regarding DDP among community health workers in Nigeria, the researcher reported that (64.5%) community health workers are having adequate knowledge regarding DDP and its management.
- Jahanara Rahman (2015) a study to assess knowledge regarding DDP among staff nurses of a selected hospital, Kolkata, West Bengal. The findings are (66.5%) staff nurses are having adequate knowledge regarding DDP.

To Compare the Pre-Test and Post-Test knowledge of Digi-Nurse regarding Digital Discipline Programme.

Knowledge regarding

General information: In pretest students are having 1.76 score and in posttesttheyarehaving2.72score, so the difference is 0.96. This difference is large and statistically significant difference.

Indications of Digital Discipline programme: In pretest students are having 0.90 score and in post-test they are having 1.67 score, so the difference is 0.77. This difference is large and statistically significant difference.

CONCLUSION:-Implementing a digital program for nurses offers numerous benefits and opportunities for professional growth, community engagement, and knowledge sharing. By leveraging social media platforms, nurses can enhance their visibility, connect with peers, and assess valuable resources to support their practice. However, it's crucial to maintain professionalism, adhere to ethical guidelines, and prioritize patient confidentiality throughout the digital program's implementation. With careful planning, continuous monitoring, and a commitment to excellence, a digital program can empower nurses to thrive in the rapidly evolving landscape of healthcare and contribute positively to their profession.Nursing students positively assess the use of digital technology as a collaborative tool, regardless of their age. The use of digital technology as a collaborative tool is perceived as beneficial as the students find it useful, improves their involvement, and allows them to obtain a better knowledge of their partners. These findings can help develop group projects and tools based on technology to train future nursing professionals for their clinical practice. The questionnaire developed is a valid and reliable tool that can be applied in other colleges or translated into other languages.

****

REFERENCES:

1. Saba V.K. Nursing informatics: Yesterday, today and tomorrow. Int. Nurs. Rev. 2001;48:177–187. doi: 10.1046/j.1466-7657.2001.00064.x.
2. Williamson K.M., Muckle J. Students' Perception of Technology Use in Nursing Education. CIN Comput. Inform. Nurs. 2018;36:70–76. doi: 10.1097/CIN.0000000000000396.
3. Maag M.M. Nursing Students' Attitudes Toward Technology. Nurse Educ. 2006;31:112–118. doi: 10.1097/00006223-200605000-00007.
4. O'Connor S., Andrews T. Smartphones and mobile applications (apps) in clinical nursing education: A student perspective. Nurse Educ. Today. 2018;69:172–178. doi: 10.1016/j.nedt.2018.07.013.
5. Meum T.T., Koch T.B., Briseid H.S., Vabo G.L., Rabben J. Perceptions of digital technology in nursing education: A qualitative study. Nurse Educ. Pract. 2021;54:103136. doi: 10.1016/j.nepr.2021.103136.
6. Procter P.M. Introduction to Nursing Informatics. Springer; London, UK: 2015. Nursing Education; pp. 154–196.
7. Kayyali R., Wells J., Rahmtullah N., Tahsin A., Gafoor A., Harrap N., Nabhani-Gebara S. Development and evaluation of a serious game to support learning among pharmacy and nursing students. Curr. Pharm. Teach. Learn. 2021;13:998–1009. doi: 10.1016/j.cptl.2021.06.023.
10. Idrissi W.E.M.E., Chemsi G., EL Kababi K., Radid M. The Impact of Serious Game on the Nursing Students' Learning, Behavioral Engagement, and Motivation. Int. J. Emerg. Technol. Learn. (IJET) 2022;17:18–35. doi: 10.3991/ijet.v17i01.26857.
11. Raman J. Mobile technology in nursing education: Where do we go from here? A review of the literature. Nurse Educ. Today. 2015;35:663–672. doi: 10.1016/j.nedt.2015.01.018.
12. Pimmer C. Mobile learning as boundary crossing: An alternative route to technology-enhanced learning? Interact. Learn. Environ. 2016;24:979–990. doi: 10.1080/10494820.2015.1128211.
13. Griffin-Sobel J.P., Acee A., Sharoff L., Kuo L., Woodstock-Wallace A., Dornbaum M. A transdisciplinary approach to faculty development in nursing education technology. Nurs. Educ. Perspect. 2010;31:41–43. [PubMed]
14. Turale S. Technology and Its Impact on Nursing Education. Nurs. Sci. J. Thail. 2011;29:9–17.
15. Barbagallo M.S., Porter J.E., Lamunu M. Evaluation of a Blended Online and Digital Learning Mode of Anatomy and Physiology for Undergraduate Nursing Students. CIN Comput. Inform. Nurs. 2020;38:633–637. doi: 10.1097/CIN.0000000000000639.
16. Hardie P., Darley A., Carroll L., Redmond C., Campbell A., Jarvis S. Nursing & Midwifery Students' Experience of Im-mersive Virtual Reality Storytelling: An Evaluative Study. BMC Nurs. 2020;19:78. doi: 10.1186/S12912-020-00471-5/TABLES/2.

Perspective of Women's Health in The Sustainable Development Goals (SDGs) in Indian Context

Hanumant Oli[1] and Reenu Rani Mishra[2]

1.Research scholar, Department of Economics, MB Govt. PG College Haldwani, Uttarakhand, India
2.Professor, Department of Economics, MB Govt. PG College Haldwani, Uttarakhand, India

Abstract

The Sustainable Development Goals (SDGs), aimed at solving the fundamental problem of social justice, emphasize the importance of enhancing the maternal health and lowering the child mortality. Additionally, the United Nations has urged the creation of wide-ranging global development plans. SDGs to be achieved by 2030 include health targets. If a person wants to enhance his educational and financial status, it is essential to have a long and healthy life. The average life expectancy of a new born baby is estimated to be 10 years. The mother's health plays a key role in the well-being and longevity of her new born baby. If the mother gets all the necessary facilities during pregnancy and postpartum period, then the rate of infant mortality, maternal mortality and malnutrition decreases. The presented research is based on the health goal of sustainable development. The present study analyzes the health status of women and children of the country by collecting the data from secondary sources. This encompasses health indicators such as maternal mortality rate, neonatal mortality rate, percentage of pregnant women with anaemia, and the under-five infant mortality rate.

Keywords: Sustainable Development, Women's Health, Social Justice, Life Expectancy, Mortality, Malnutrition.

Introduction

Building on the successful implementation of Sustainable Development Goals (SDGs), the 193 member countries of the United Nations established a new development agenda after 2015 in the form of SDGs (Leal Filho et al. 2024). This was adopted at the United Nations Sustainable Development Summit on September 25, 2015, containing a total of 17 goals and 169 objectives (Brondy et al. 2023). These comprehend matters related to social inclusion, economic development, and environmental protection, which are important in relation to sustainable development (Song and Jang 2023). SDGs is an international ambitious declaration which sets the key goals of eliminating poverty, hunger and violence against women (Desai 2023). It also aims to ensure that every human being in the world has a legal identity and receives respect and justice (Bexell et al. 2023). According to this declaration, approved by the consensus in September 2015, all 193 member countries of the United Nations are expected to make this concept of sustainable development a reality between 2016 and 2030 (Trane et al. 2023). This declaration of sustainable development is now applicable to all countries of the world. It comprises both developing as well as developed countries. The objectives of sustainable development include eradicating poverty and hunger, promoting gender equality, education, health and well-being, water and sanitation, energy, infrastructure, industry and innovation, quality employment and economic growth, reducing inequality, sustainable cities, consumption and production, addressing climate change, ecosystems, peace and justice, and partnerships. (Jeevanasai et al. 2023). This global agenda of 2030 is working on the objective of 'leaving no one behind' (Samman et al. 2024).

The third goal of SDGs is to safeguard optimum health and endorse well-being of all at every age (Bartniczak et al. 2024). Illness not only affects the well-being of an individual but also puts a burden on the family and human resources, weakens society and reduces its capacity. Ensuring optimum health and well-being of people of all ages is the key point of sustainable development (AbuShihab et al. 2023). Preventing disease is essential not only for the healthy life, but also for creating opportunity for all, and promoting economic growth and prosperity. The international community has dedicated the global efforts to abolish diseases, reinforce access to treatments and health services, and address new and emerging health issues through the nine objectives of SDGs (Owolabi et al. 2023). These objectives also focus on improving the health of mothers and children. This involves reducing global maternal mortality rate below 70 deaths per 100,000 live births by 2030 (Kurjak et al. 2023), reducing the neonatal mortality rate to at least 12 per 1,000 live births (Kc et al. 2020) and bringing down the death rate of children under five to a minimum of 25 per 1,000 live births by 2030. (Perin et al. 2022), guaranteeing sexual and reproductive health services, such as education and information about family planning, reachable to all by 2030 and ensuring safe, effective, efficient and affordable health care (Appleford et al. 2020). These objectives include making essential medicines and vaccines accessible.

2. Objectives

a) To study the reproductive health status of women.
b) To study maternal mortality in India.

C.To investigate the health status of infants and young children under five

3.Research Methodology-The presented research reviews various health targets of SDGs to be achieved by 2030. Numerous databases were used in this study, including research papers, books, articles, health reports, and the internet. Tables and graphs were used to illustrate the data from various sources. Percentage change has been calculated for pregnant woman who are anaemic between NFHS-4 and NFHS-5HS. Neonatal mortality rate has been calculated for 2030 and 2035. The formula for projection has been given below:-

PNMR =forecast (x, known_y's, known_x's)

Where:

PNMR= Projected Neonatal mortality rate

X= Year

Y= Neonatal mortality rate

4.Sustainable Development and Health Goals in India

The health goal of SDG calls for 'healthy life for all and wellness at every age'. These include reducing maternal mortality rate (per one lakh live births) to 70, mortality rate of children under 5 years of age to 25 and neonatal mortality rate (per 1000 live births) to 12 by 2030, availability of essential medicines and vaccines, availability of reproductive and sexual health services, health coverage, etc. In this, the following health indicators are important in the context of women and child health.

4.1. Maternal Mortality Rate-According to SDGs, By 2030, the global maternal mortality rate is expected to drop to less than 70 fatalities for every 100,000 live births. India has made some progress this time. In 1990-91, the rate of maternal deaths was 437 per 100,000 live births and it declined to 167 in 2009. In 2015-16, the ratio is 130 maternal deaths per 100,000 live births. An analysis of the India's states on maternal fatality rates indicates that only Kerala (46), Maharashtra (61) and Tamil Nadu (66) have reached SDGs. Of the remaining states, southern states Andhra Pradesh (74) and Telangana (81) are close to the targets. States lagging far behind the target include Assam (237), Uttar Pradesh and Uttarakhand (201), Rajasthan (199), Odisha (180), Madhya Pradesh (173), Bihar (165), Punjab (122), Karnataka (108), Haryana (101), West Bengal (101) and Gujarat (91). In accordance with the State Family and Health Survey-4 (2015-16), 84% of females of age between 15 to 49 years in India receive antenatal care (ANC). Of these, 79% women received skilled maternal care services. 51.2% women in the country received at least 4 obstetric services, while only 21%women received complete antenatal check-up services (7 antenatal check-ups). Institutional delivery in the country is 78.9 percent. Only 41% babies are breastfed within one hour of birth. All these factors are important in reducing maternal mortality and infant mortality rates.

4.2 Anaemia in women-Women's health is important for achieving sustainable development goals. If the percentage of anaemic women in the country is low, then healthy children can be born and problems like infant mortality, child mortality, and maternal mortality can be reduced. According to Mita Meera (2016), 45% of all the child deaths worldwide are due to inadequate nutrition. As the number of malnourished girls increases, their nutrition is also reduced in adolescence and if younger women become pregnant, many mothers face many complications while giving birth. To ensure the nutrition of mothers, to increase the weight of the mother during pregnancy, as well as to ensure better nutrition for women at all times, it is important to make efforts.

Table 1: Pregnant women who are anaemic (Age 15- 49)

S.No	State	NFHS-4 (%)	NFHS- 5(%)
1	India	50.4	52.2
2	Andaman & Nicobar	61.4	53.7
3	Andhra Pradesh	52.9	53.7
4	Asam	44.8	54.2
5	Bihar	58.3	63.1
6	Daman & Diu	62.3	60.7
7	Goa	26.7	41
8	Gujrat	51.3	62.6
9	Himanchal Pradesh	50.4	42.2
10	Jammu & kasmir	46.9	44.1
11	Karnataka	45.4	45.7
12	Kerala	22.6	31.4
13	Lakshadweep	39	20.9
14	Ladakh	79.3	78.1
15	Maharashtra	49.3	45.7
16	Meghalaya	53.3	45
17	Manipur	26	32.4
18	Mizoram	27	34
19	Nagaland	32.7	22.2
20	Sikkim	23.6	40.7
21	Telangana	48.2	53.2
22	Tripura	54.4	61.5
23	West Bengal	53.6	62.3
24	Arunachal Pradesh	37.8	27.9
25	Chhattisgarh	41.5	51.8
26	New Delhi	46.1	42.2
27	Haryana	55	56.5
28	Jharkhand	62.6	56.8
29	Madhya Pradesh	54.6	52.9
30	Odisha	47.6	61.8
31	Punjab	42	51.7
32	Puducherry	26	42.5
33	Rajasthan	46.6	46.3
34	Tamil Nadu	44.4	48.3
35	Uttar Pradesh	51	45.9
36	Uttarakhand	46.5	46.4

Source: *NFHS-(2019-2021) and NFHS-(2015-2016)*

Nearly half (52%) of all pregnant women aged 15 to 49 in India are anaemic as per NFHS-5. This rate is well above the state target (23.57%) for achieving SDGs. While, Nagaland (22.2%) is the only state in India to have a rate below the state target, Sikkim (23.6%) is very close to achieving the target. Among the Union Territories, Lakshadweep performed best with 20.9%. But among the states, Jharkhand (62.2%), Bihar (63.1%) and among the Union Territories, Dadra and Nagar Haveli lagged the most with 67.9% (Table 1).

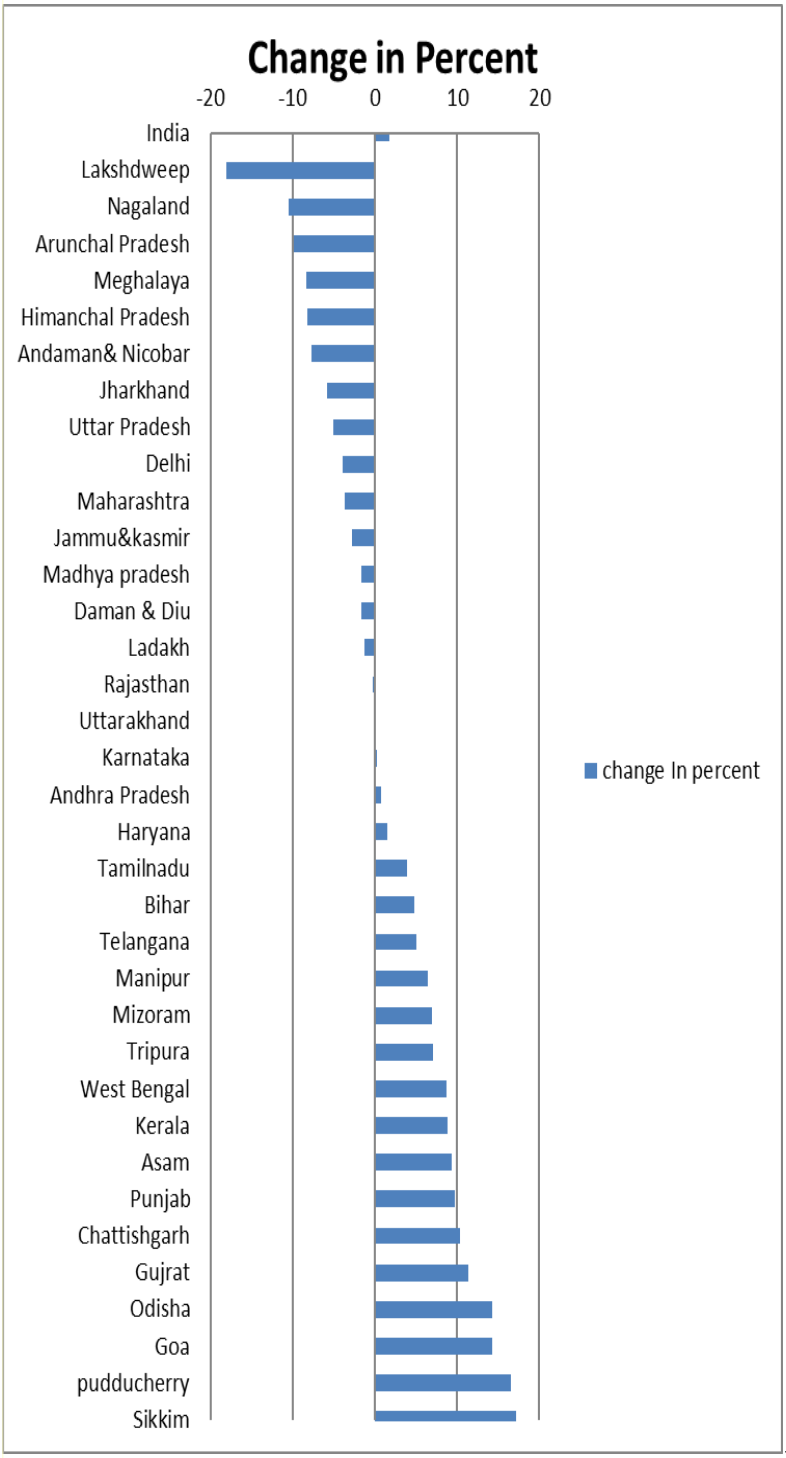

Figure 1: Percentage Change of Pregnant women who are anaemic (Age 15-49) between NFHS-4 and NFHS-5

Source: *NFHS-(2019-2021) and NFHS-(2015-2016)]*

4.3 Neo---natal Mortality Rate-The SDGs aim to lower the newborn death rate to 12 per 1,000 live births by 2030. In India, the death rates of neonates was 49 per 1,000 live child births in 1992-93, 43 per 1000 live births (National Family Health Survey-1) and 24.9 in 2019-21 (National Family Health Survey-1). This means that even today in the country, one out of every 40 live births occurs during the new-born period. If seen from the perspective of the health goals of sustainable development, there is still a long way to go, the new-born mortality rate which is 30 per 1,000 live births has to be reduced to below 12.

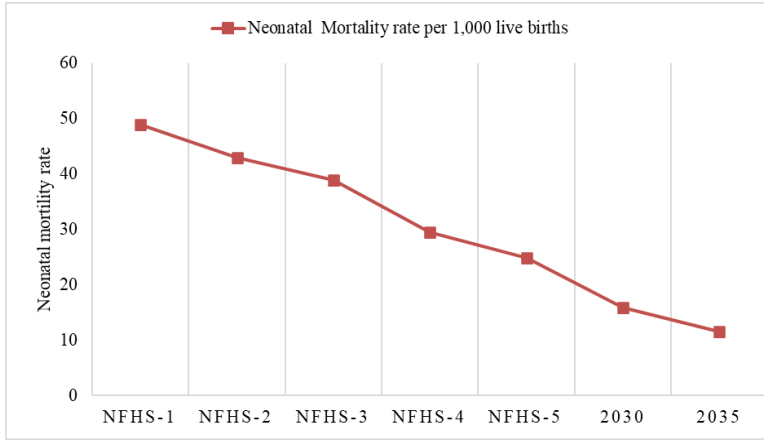

Figure 2: Projected mortality rate of neonates

Source: *NFHS-(2019-2021) and NFHS-(2015-2016) NFHS-(2005-2006) NFHS-(1998-1999) NFHS-(1991-1992)]*

The above graph illustrates the projected neonatal mortality rate per 1,000 live childbirths from the first NFHS report onward. If current circumstances continue, India is expected to achieve a target of 12 by approximately 2035. This emphasizes the positive results of government initiatives. If this progress is sustained, it will considerably improve the overall situation concerning early childhood mortality among neonates. Healthcare infrastructure is growing very fast in India and the government is working very efficiently to strengthen it further so that it can help the country to make it easy to reach the goals set by SDGs.

4.4 Children mortality rate among under five years of age:-The Sustainable Development Goal aims to lower the children's mortality rate which comes under five years of age to at least 25 per 1,000 live births by 2030. In this context, the mortality rate of India has lessened from 109 per 1,000 live births in 1990 to 50 per 1,000

live births in 2013. According to the National Family Health Survey-4, the mortality rate of children under five years of age in 2015-16 is 50 per 1,000 live births and 42 in National Family Health Survey-5. These figures indicate that approximately one in 25 children dies before their fifth day of birth. Comparing SDGs with the children mortality rate (of less than five years of age) shows that we are still far from achieving the target by 2030. A review of the states of the country in this regard indicates that only West Bengal (25), Mizoram (24), Tamil Nadu (22), Arunachal Pradesh (19), Sikkim (11), Kerala (5.2), and Goa (13) and Union Territories Andaman & Nicobar (25), and Puducherry (3.9) have achieved the Sustainable Development Goal (25). So Uttar Pradesh (60) is lagging far behind in this regard. The situation of the rest of the states of the country is like this.

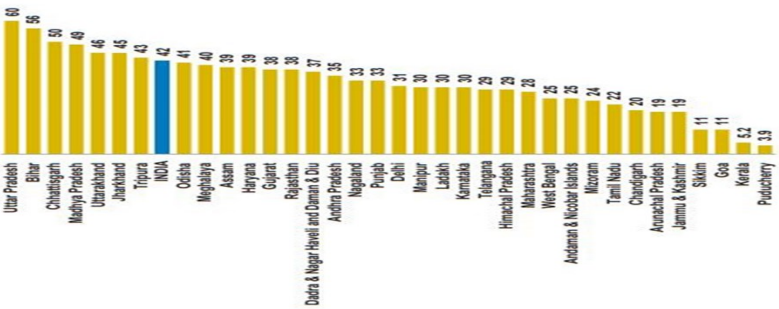

Figure 3: Children mortality rate among under five years of age ***Source:*** *NFHS-(2019-2021)*

5.Suggestion: To accomplish SDGs in India, there is a necessity to integrate social, economic and health aspects.

The role of state governments is also crucial for the progress of SDGs.

There are not enough resources to collect the information required to reach the SDGs.

Therefore, it is crucial to establish a reliable system that works to accomplish the SDGs.

6.Conclusion: Looking at the development of States and Union Territories in India, it is evident that there is still a long way to go in terms of development as desired by the United Nations. The Government of India is actively working to review the health aspect of SDGs and to strengthen the health sector of the country. Under the National Health Mission (NHM), efforts are underway to ensure universal access to health services by enhancing health institutions and building human resource capacity. State health protection schemes, such as Ayushman Bharat and Pradhan Mantri Jan Swasthya Yojana (PMJSY), offer coverage of up to ₹5 lakh per year for family healthcare. Mission Indradhanush is trying to increase the full vaccination coverage in India, but it is not enough to achieve the Sustainable Development Goal. Along with this, India should increase its personal expenditure on health, which is only around 1 percent of GDP in India, our public expenditure is only 41.4%, which is much less than other countries (Japan 82%, Canada 70%).

References

1.AbuShihab, K., Obaideen, K., Alameddine, M., Alkurd, R.A.F., Khraiwesh, H.M., Mohammad, Y., Abdelrahim, D.N., Madkour, M.I. and Faris, M.E., 2023. Reflection on Ramadan fasting research related to sustainable development goal 3 (Good Health and Well-Being): a bibliometric analysis. *Journal of Religion and Health*, 1-31.

2.Appleford, G., RamaRao, S. and Bellows, B., 2020. The inclusion of sexual and reproductive health services within universal health care through intentional design. *Sexual and Reproductive Health Matters*, 28(2):1799589.

3.Bartniczak, B., Płachciak, A., Raszkowski, A. and Lewis, G.J., 2024. Good Health and Well-Being: An Assessment of Sustainable Development Goal (SDG) No. 3 in the Sahel Countries. *Sustainability*, 16(5):2109.

4.Bexell, M., Hickmann, T. and Schapper, A., 2023. Strengthening the Sustainable Development Goals through integration with human rights. *International Environmental Agreements: Politics, Law and Economics*, 23(2):133-139.

5.Brodny, J. and Tutak, M., 2023. Assessing regional implementation of Sustainable Development Goal 9 "Build resilient infrastructure, promote sustainable industrialization and foster innovation" in Poland. *Technological Forecasting and Social Change*, 195:122773.

6.Desai, B.H., 2023. The 2023 New York SDG Summit Outcome: Rescue Plan for 2030 Agenda as a Wake-up Call for the Decision-makers. *Environmental Policy and Law*, 53(4):221-231.

7.Https://in.one.un.org/sustainable-development-goal/

8.Https://in.one.un.org/sustainable-development-goal/sdg-goal-3

9.Https://mr-wikipedia-org/s/3ukf

10.Https://pib.gov.in/pressreleasepage.aspx?PRID=1795421

11.Https://www.orfonline.org/hindi/research/sdg-india-index-can-bold-globalambitiontranslated-effective-ground-reality

12.Jeevanasai, S.A., Saole, P., Rath, A.G., Singh, S., Rai, S. and Kumar, M., 2023. Shades & shines of gender equality with respect to sustainable development goals (SDGs): The environmental performance perspectives. *Total Environment Research Themes*, 8:100082.

13.Kc, A., Jha, A.K., Shrestha, M.P., Zhou, H., Gurung, A., Thapa, J. and Budhathoki, S.S., 2020. Trends for neonatal deaths in Nepal (2001–2016) to project progress towards the SDG target in 2030, and risk factor analyses to focus action. *Maternal and child health journal*, 24:5-14.

14.Kurjak, A., Stanojević, M. and Dudenhausen, J., 2023. Why maternal mortality in the world remains tragedy in low-income countries and shame for high-income ones: will sustainable development goals (SDG) help?. *Journal of perinatal medicine*, 51(2):170-181.

15.Lahiriya, Chandrakant (2016). Universal Health Coverage and Sustainable Development Goals, Yojana Monthly (February 2016), Ministry of Information and Broadcasting, Government of India.

16.Leal Filho, W., Dibbern, T., Dinis, M.A.P., Cristofoletti, E.C., Mbah, M.F., Mishra, A., Clarke, A., Samuel, N., Apraiz, J.C., Abubakar, I.R. and Aina, Y.A., 2024. The added value of partnerships in implementing the UN sustainable development goals. *Journal of Cleaner Production*, 438: 140794.

17.National family health survey-1(1991-92). International Institute of Population Sciences, Deonar, Mumbai.

18. National family health survey-2(1998-99). International Institute of Population Sciences, Deonar, Mumbai.

19. National family health survey-3(2005-06). International Institute of Population Sciences, Deonar, Mumbai.

20. National family health survey-4(2015-16). International Institute of Population Sciences, Deonar, Mumbai.

21. National Family Health Survey-5 (2019-21). International Institute of Population Sciences, Deonar, Mumbai.

22.NITI Aayog (2018). SDG India Index, Baseline Report 2018.

23.Owolabi, M.O., Leonardi, M., Bassetti, C., Jaarsma, J., Hawrot, T., Makanjuola, A.I., Dhamija, R.K., Feng, W., Straub, V., Camaradou, J. and Dodick, D.W., 2023. Global synergistic actions to improve brain health for human development. *Nature Reviews Neurology*, 19(6):371-383.

24.Perin, J., Mulick, A., Yeung, D., Villavicencio, F., Lopez, G., Strong, K.L., Prieto-Merino, D., Cousens, S., Black, R.E. and Liu, L., 2022. Global, regional, and national causes of under-5 mortality in 2000–19: an updated systematic analysis with implications for the Sustainable Development Goals. *The Lancet Child & Adolescent Health*, 6(2):106-115.

25.Reddy, K.Nathan (2016). Health in the Era of Sustainable Development, Yojana Monthly (February 2016), Ministry of Information and Broadcasting, Government of India.

26.Samman, E., Roche, J.M., Evans, M. and Binat, M.S., 2025. The SDGs and the 'leave no one behind'agenda in middle-income countries. In: *The Capability Approach and the Sustainable Development Goals* (pp. 265-282). Routledge.

27.Song, J. and Jang, C.H., 2023. Unpacking the sustainable development goals (SDGs) interlinkages: A semantic network analysis of the SDGs targets. *Sustainable Development*, 31(4):.2784-2796.

28.Trane, M., Marelli, L., Siragusa, A., Pollo, R. and Lombardi, P., 2023. Progress by research to achieve the sustainable development goals in the EU: a systematic literature review. *Sustainability*, 15 (9):7055.

प्रेमचन्द के साहित्य में वृद्ध विमर्श

प्रियांशु कुमारी
शोध छात्र
पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना
डॉ. सरिता सिन्हा
शोध निर्देशिका सहायक प्राध्यापिका (हिन्दी विभाग)
ए० एन ० कॉलेज, पटना

सारांश : वृद्धावस्था एक ऐसी अवस्था है, जिसका इलाज प्यार , स्नेह और सम्मान आदि के द्वारा ही संभव है । जब यह अवस्था अपने अवसान के द्वार तक पहुँचती है तब तक वृद्ध कमजोर शुष्थ तथा थक चुके होते है । उसे उस समय किसी ऐसे व्यक्ति की चाह होती है, जो उसे ढाँढ़स बँधाये और उससे अपनत्व दिखाये। बहुत कम ही ऐसे लोग होते हैं , जिन्हें जीवन के अंतिम पड़ाव में भी अपनों से सहारा मिला हो, उनसे अपने दुःख दर्द को बाँटा हो। वैसे तो औसत रूप से साठ साल की आयु के बाद से मृत्यु तक बुढ़ापा या वृद्धावस्था माना जाता है । मनुष्य के जीवन की यह ढ़लान बड़ी कष्टकर होती है। व्यक्ति को बचपन में जितने चुंबन बिना माँगे मिल जाते हैं, बुढ़ापे में उससे कई गुना चिढ़न का सामना करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपनी जबाबदेहियों को पूरा करने में इतना मशरूफ रहता है कि उसे बूढ़ा होने के एहसास को भी एहसास करने की फुरसत नहीं होती हैं। किंतु प्रकृति का नियम तो अटल है - " बलगामी खांसती रातें और गठियाए दिन की, कोई आकांछा नहीं करता और ये किसी को छोड़ते भी नहीं।"[१]

प्रस्तावना :

प्रेमचन्द युग 1918 ई० से 1936 ई० तक माना जाता है। इससे पहले के उपन्यासों में चमत्कार, जासूसी, रहस्य, कल्पना, सामाजिक आंदोलन आदि का चित्रण हुआ था। परंतु प्रेमचन्द ने समस्या प्रधान सामाजिक उपन्यासों की रचना करके साहित्य में नवीन विचारधारा को बढ़ावा दिया है। हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचन्द का योगदान अतुलनीय है। इन्होंने बहुत कम समय में लोकप्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त कर ली । इन्होंने समाज के किसी विशेष वर्ग पर केन्द्रित न होकर बल्कि समाज के सभी वर्ग तथा सभी समस्या को ध्यान में रखकर रचनाएँ की हैं। शायद ही कोई विषय होगा जो प्रेमचन्द से अछुता होगा। प्रेमचन्द ने समाज के सभी वर्गों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर लोगों को समकालीन सामाजिक समस्या से अवगत कराया। ऐसी ही एक समस्या है- वृद्धावस्था की समस्या, जो कि वर्तमान समय में हर वृद्ध व्यक्ति के लिए चुनौती बन गई है । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में कई स्थानों पर वृद्धों के जीवन की समस्याओं को उठाया है । कर्मभूमि, निर्मला, गोदान जैसे ऐसी ही सामाजिक समस्याएँ इस उपन्यासों में देखने को मिलता हैं।

'कर्मभूमि' उपन्यास 1932 ई० में प्रकाशित हुआ था । प्रेमचन्द कृत इस उपन्यास में समाज की अनेक समस्याओं को इंगित किया गया है । "जैसे - वर्ग संघर्ष, साम्प्रदायिकता, अछूतों का मन्दिर में प्रवेश, सामूहिक बलात्कार, किसानों से लगान वसूल करना, ग्रामीण समस्याएँ, अहिंसात्मक आंदोलन, अधिकारों का हनन, लोकतांत्रिक, अंग्रेजी हुकूमत, स्वतंत्रता आन्दोलनों में महिलाओं की भागीदारी, पराधीनता, महाजनी व जमींदारी दहेज प्रथा, पीढ़ीगत वैचारिक संघर्ष, अशिक्षा, भेदभाव, पारिवारिक सम्बन्धों में कड़वाहट आदि।"[२] इस उपन्यास में तीन वृद्ध है- समरकान्त, पठानिन, रेणुका देवी । इस में समरकान्त जो कि वृद्ध हैं, एक महाजन भी है। समरकान्त उसके बेटे अमरकान्त के विचार कभी मेल नहीं खाते हैं, जिस कारण दोनों में हमेशा तनाव बना रहता है । ये दोनों एक दूसरे को कभी नही समझ पाते है, और हमेशा वैचारिक मतभेद बना रहता है । जब बहु सुखदा समरकान्त की जीवन संध्या में मिलने आती है, तब समरकान्त के दिल का दर्द कुछ इस भाव से बाहर आता है -" माँ – बाप की कामना तो यही होती है की उनकी संतान को कोई कष्ट न हो। जिस तरह उन्हें मरना पड़ा । जिस तरह उन्हें धक्के खाने पड़े, कर्म - अकर्म सब करने पड़े, वे कठिनाइयाँ उनकी सन्तान को न झेलनी पड़ी ।"[३]

इसी उपन्यास में पठानिन तथा रेणुका देवी दो वृद्धा है और विधवा भी। पठानिन का भरापूरा परिवार है, फिर भी वो अकेली है । पठानिन के पति खाँ साहिब समरकान्त के दुकान पर काम करते थे । खाँ साहिब के जाने के बाद समरकान्त पठानिन को 5 रू० महिने के देते थे , जिससे उसका गुजर बसर होता था। इधर रेणुका देवी को एक बेटी है । जिसके शादी के बाद वो अकेली है और अकेले होने के कारण काशी चली जाती है वहीं अपना जीवन बिताती है । रेणुका देवी वृद्धावस्था में भी एक सक्रिय समाज सेविका के रूप में नजर आती है । ये निर्धनों के मदद के लिए ट्रस्ट भी खुलवाती है और उसे आगे भी बढ़ाती है । इस प्रकार 'कर्मभूमि' उपन्यास में प्रेमचन्द ने वृद्ध पात्र के रूप में समरकान्त, रेणुका देवी और पठानिन का चित्रण किया है । समरकान्त एक वृद्ध उपेक्षित पिता के रूप में चित्रित है। दूसरी ओर रेणुका देवी और पठानिन अपनी पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं से ग्रस्त हैं । इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यास में वृद्धावस्था का चित्रण देखने को मिलता है।

प्रेमचन्द के दूसरे उपन्यास 'निर्मला' में मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थवाद का चित्रण है। इसका प्रकाशन 1927 ई० में हुआ था। इस उपन्यास में अनमेल विवाह अर्थात् वृद्ध विवाह और दहेज प्रथा के बुरे प्रभावों को अंकित किया गया है । इस उपन्यास में मुंशी तोताराम और रुक्मणी वृद्ध हैं। समकालीन समाज में नारी स्वतंत्रता से अपना जीवन नहीं जी पाती है, इसी कारण निर्मला के सिर से पिता का साया उठ जाने और माँ के पास दहेज ना होने के कारण 15 वर्ष की उम्र में एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति मुंशी तोताराम जो कि तीन बच्चे के पिता है , से विवाह करना पड़ता है। तोताराम निर्मला से विवाह करता है कि उनका परिवार पूरा हो जाये । बच्चों को माँ मजिल जाये , उनका घर स्वर्ग बन जाये । परन्तु हुआ उसका उल्टा , हँसता - खेलता परिवार दुर्दशा की बलि चढ़ गया । बुढ़ापे में तोताराम पत्नी निर्मला तथा बेटे जियाराम को शक की दृष्टि से देखने लगता है , जिससे परिवार के सम्बन्ध बिगड़ जाते है । उधर बेटे जियाराम भी आत्महत्या कर लेता है । तोताराम की विधवा बहन रुक्मिणी देवी जिसकी उम्र पचास से कुछ अधिक है , तीनों बच्चों को सम्भालती हुई तोताराम के घर में रहती है । निर्मला के आने से घर में वर्चस्व की लड़ाई प्रारंभ होने लगती है और परिवार में हमेशा कलह की स्थिती बनी रहती थी।

इस उपन्यास में तोताराम और रुक्मिणी देवी वृद्धावस्था में आकर भी सुखद जीवन के लिए संघर्ष करते दिखते है । दोनों को परिवार का सुख नहीं मिला। तोताराम ने बुढ़ापे में विवाह किया, परन्तु अपने से बहुत कम उम्र की लड़की से किया , जिसके कारण उन्हें पछताना पड़ा। रुक्मिणी देवी ने बुढ़ापे में आराम के बजाय अर्थिक तंगी और पारिवारिक कलह का सामना करना पड़ा। 'गोदान' 1936 ई० में प्रेमचंद द्वारा रचित उपन्यास है । गोदान को हिंदी साहित्य का महाकाव्य कहा जाता है । प्रेमचन्द ने भारतीय मूल आत्मा को इस उपन्यास में चित्रित किया है । यह उपन्यास साहित्य जगत की चुनौतियों पर खरा उतरता है ।" इस उपन्यास में उन्होने वृद्ध होरी तथा भारत के अन्नदाताओं किसानों के जीवन की समस्याओं को सार्थक रूप में चित्रित किया हैं । होरी ने जीवनभर संघर्ष किया परन्तु फिर भी जमींदार से किया कर्जा न चुका सका। अन्त में होरी की मृत्यु हो जाने के बाद होरी की पत्नी धनिया पंडित से कहते हुए दिखाई देती है, होरी के नाम का गोदान कर दीजिए।"[४]

हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचन्द का नाम अग्रणीय रहता है । इन्होंने सामाजिक समस्याओं को अपने कथा साहित्य में स्थान दिया । ऐसी ही एक समस्या वृद्ध जीवन की है जिसका चित्रण प्रेमचन्द के साहित्य में देखने को मिलता है । "वृद्ध महिलाओं में बूढ़ी काकी, विध्वंस की भुनगी, बेटों वाली विधवा की फूलमती और सुभागी की माँ अपने ही परिवार द्वारा अपमानित, प्रताड़ित और शोषित होती दिखती है । वहीं मन्त्र कहानी का भगत अस्सी वर्ष की अवस्था में भी निःस्वार्थ सेवा और कर्तव्य के प्रति समर्पित भाव रहता है ।"[५]

निष्कर्ष:-

प्रेमचंद्र के उपन्यासों में वृद्ध पात्रों की बहुलता देखने को मिलता है । जिसके उदाहरण स्वरूप पात्र 'कर्मभूमि' उपन्यास के समरकान्त, पठानिन और रेणुका देवी हैं। 'निर्मला' उपन्यास में अधेड़ उम्र में वृद्ध विवाह करके तोताराम समस्या ग्रस्त पात्र बन जाता हैं । वहीं रुक्मिणी देवी कम उम्र में विधवा होकर संघर्षमय जीवन बिता रही हैं। 'गोदान' का होरी राम किसान जीवन में मेहनत, मजदूरी करता वृद्ध है, जो वृद्धावस्था के दौरान भी कर्ज में डूबा हुआ और जमीन बचाने के लिए संघर्ष करता दिखता है ।

प्रेमचंद ने समय - सापेक्ष अपनी रचनाओं में वृद्धजन की स्थिति की चर्चा कर अपने साहित्यकार होने का प्रमाण दिया है । प्रेमचंद आदर्शोन्मुखी - यथार्थ के लेखक हैं । फलतः उन्होंने अपने साहित्य में वृद्धजन की समस्या को उजागर करके नैतिक और आदर्शवादी समाधान भी सुझाया है । आज हमारे समाज में वृद्धजन के प्रति उदासीनता और उपेक्षा की भावना बढ़ती जा रही है। अतः प्रेमचंद की रचनाओं में उद्धृत वृद्ध विमर्श वर्तमान समय में भी महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है ।

****

संदर्भ :-

1. सहायक प्राध्यापक हिंदी, रामजयपाल महाविद्यालय, धपरा।
2. हिन्दी कथा साहित्य में वृद्धावस्था का यथार्थ - डॉ० अंकिता शर्मा , पृ० 77
3. कर्मभूमि - प्रेमचन्द, पृ० - 88
4. हिन्दी कथा साहित्य में वृद्धावस्था का यथार्थ - डॉ अंकिता शर्मा, पृ० 83
5. हिन्दी कथा साहित्य में वृद्धावस्था का यथार्थ - डॉ अंकिता शर्मा, पृ 95

बालको के विकास में बाल पत्रकारिता का योगदान

डॉ.शशि प्रभा जैन
प्रोफेसर
अविनाश लिंगम विश्वविद्यालय कोयम्बतूर

शोध का सार - बालक देश के दर्पण होते है Iवे राष्ट्र की मुस्कराहट है Iबालकों में वर्त्तमान करवटें लेता है और भविष्य के बीज उसी में बोये जा सकते है I पत्रकारिता का मूल उद्देश्य सूचना देना, शिक्षित करना तथा मनोरंजन करना है। इन तीन उद्देश्यों में सम्पूर्ण पत्रकारिता का सार तत्व समाहित किया जा सकता है।अत: हमारा यह कर्त्तव्य बनता है कि हमें अपने वर्त्तमान और भविष्य को स्वर्णिम और सुखमय बनाना चाहिए ,जिससे हमारा देश संसार में आदर्श बन सकें Iबालक की उन्नति ही समाज और देश की उन्नति है I

मूल शब्द- पत्रकारिता,बालक ,समाज ,दायित्व,जागृति,भविष्य, मार्गदर्शन

पत्रकारिता समाज के विचारों का प्रतिबिम्ब है और साहित्य की संवाहिका है, जो समाज और साहित्य के इतिहास में अपना विशेष स्तान बनाकर उसका निर्माण करती है Iग्रांटों में समाहित साहित्य से जो संभव नहीं था वह आज पत्र- पत्रिकाओ के साहित्य ने कर दिखाया हैI पत्रकरिता रोज रोज लिखा जाने वाला इतिहास हैI पत्रकारिता का मूल उद्देश्य "अन्यायों और बेईमानी का उद्घाटन कर, दोषों,कमियों, खामियों को उजागर करना, सलाह मशवरा देना और असहाय की सहायता करना और लोगों को मार्गदर्शन करना I" इस तरह रहस्योद्घाटन पतकारिता की धड़कन बन जाता है, क्योंकि वे घटनाएँ घटती तो है,लेकिन जिन्हे कोई वर्ग व्यक्तिगत हितों क कारन छिपाना चाहता है , उनेह भी पत्रकारिता उजागर करती हैI

पत्रकारिता सम्प्रेषण का सामजिक माध्यम है Iइस वेज्ञानिक युग में पत्रकारिता जनता को दुर्घटनाओं के माध्यम से सचेत करती है और मनोरंजन भी करती हैंIपूरे समाज की समस्त घटनाओं को प्रतिबिम्बित कर यह स्वयं समाज से प्रभावित भी होता है और समाज को प्रभावित करता ही है Iवास्तव में पत्रकारिता वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने मस्तिष्क में उस दुनिया के बारे में सूचनाएं और जानकारियाँ एकत्र करते है ,जिसे स्वयं के प्रयासों से भी जान नहीं सकते I

जीवन की यह वह अवस्था है जिसमें बच्चा अपने माता-पिता, शिक्षक और चारो तरफ के परिवेश से ही सीखता है। यही वह उम्र होती है जिसमें बच्चे के मास्तिष्क पर किसी भी घटना या सूचना की आमिट छाप पड़ जाती है। बच्चे के आस-पास की परिवेश उसके व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।पत्रकारिता का मूल उद्देश्य सूचना देना, शिक्षित करना तथा मनोरंजन करना है। इन तीन उद्देश्यों में सम्पूर्ण पत्रकारिता का सार तत्व समाहित किया जा सकता है।महान शिक्षाविदों का मानना है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल रटंत क्षमता को बढ़ाना न होकर छात्रों की. मौलिकता वं सृजनात्मकता का विकास होना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि ***बाल*** पत्रिका इस दिशा में. एक अभिन कदम उठाएगी I

परिभाषाएं – मानवीय स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की आकांक्षा ,सामाजिक आदर्शों के लिए ल्स्भ एवं समर्पण तथा विशाल विश्व में अपनी पहचान एवं अस्मिता को बनाय रखने की भावना का परिणाम ही पत्रकारिता है I

- "पत्रकारिता वह धर्म है ,जिससे वह तात्कालिक घटनाओं का सबसे अधिक सही और निष्पक्ष विवरण पाठकों के समक्ष उपस्थित करेंi" --डॉ.भवरखुराना
- "टूटे दिलों को जोड़ना पत्रकारिता का सबसे बड़ा दायित्व होता है I" –भजनलाल,जनसत्ता,२६ दिसम्बर १९९२

पत्रकारिता भारतीय जनता तक सूचना और ज्ञान पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समाचारों से लेकर स्थानीय कहानियों तक, पत्रकारिता नागरिकों को उन घटनाओं के बारे में सूचित रखती है जो उनके जीवन को प्रभावित करती हैं।

पत्रकारिता का स्वरुप किस रूप में सामने आये जिसके दवा वह अपने लक्ष्य तक पहुँच सके,इस दिशा पत्रकारिता के कुछ शाश्वत धर्म ही उसके स्वरुप को उदघाटित का सकते है, वे इस प्रकार है-

दस धर्म * सामाजिक चेतना का दर्पण , *सूक्षम पर्यवेक्षण ,* नीर –क्षीर विवेक ,* मूल्यू की नियामिका,* परिवेश से सम्प्रक्ति,*वैविध्यपूर्ण व्यापक क्षेत्र ,* समाज की सुधारवादी दृष्टी ,*सम्प्रेषण का माध्यम,*प्रेरणा और जागरूकता ,* आधुनिक जीवन की दिशा निर्देशिका

पत्रकारों की अभिव्यक्ति का शसक्त एवं लोकप्रिय साधन है क्योंकि यह समस्त बुनियादी मुद्दे को जनता के सामने बड़ी कलात्मकता से रखती हैI Iजनता को सूचित कर उनका मIर्ग दर्शन भी करती है IकिसI भी प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिए पत्रकारिता का होना आवश्यक है I

समाचार पत्र एक" सी निवृत्ति मिशन कार्य है i समाज की कुरीतियों ,त्रुटियों एवं आडम्बर पूरण कार्यों का पर्दाफाश कर उनहे सुधरने का दायित्व भी निभाता है Iसमाचार पत्र सर्कार की नीतियों ,गतिविधियों एवं त्रुटियों को विश्लेषित करते है जिससे जनजीवन को पूर्णतः ज्ञानत रहे किसर्कार की नीतियों का अनुसरण कर रही है Iयह सुधारों को सामने लाकर उनेहे विकसित करने का प्रयास करती हैंIपत्रकारिता के विविध रूपों में से एक रूप है- **बाल पत्रकारिताI**

बाल पत्रकारिता -

बालक देश के दर्पण होते है Iवे राष्ट्र की मुस्कराहट है Iबालकों में वर्त्तमान करवटें लेता है और भविष्य के बीज उसी में बोये जा सकते है I बालक में सम्यक विकास के लिए बाल पत्रकारिता अत्यंत उपादेय है Iबच्चों में अनंत

जिज्ञासा होती है ,वे दुनिया के हर विषय के हर तय्य को जान्ने हेतु लालायित रहते है Iउनकी जिज्ञासा की शांति के लिए रंग –बिरंग, मनोरंजक रूप में उन्ही की भाषा में पत्र-पत्रिकाएं निकल रही है Iवयस्क की भाषा और वयोवृद्ध पत्रकार बालकों की रुचियों और उनकी अकन्षाओं के अनुरूप पत्र सम्पादित करते है I बाल पत्रों के पत्रकार को सर्वज्ञ और एक शुद्ध बालक होना पड़ता है I"बल सखा," शिशु बालक","पराग", नंदन"'चंदामामा",आदि पत्रों ने बच्चों की गतिविधियों पर प्रक्सश डाला है I

"A book is a Guide,Friend, and a Philosopher."यह कथन बाल –पत्रकारिताओं के लिए उपयुक्त है I"पत्रिकाएं " एक ऐसा उत्तम अस्त्र है,जो बालकों को सही दिशा दिखाती है Iदुनिया भर के विषय उपलब्ध कराकर उनेहे शिक्षित करती है I बच्चों का मस्तिस्क एक "बचत खIता" ,के सामान होता है Iवह जो कुछ सीख लेता है उसे जीवन में उतार लेता है Iबढ़ते बच्चों में इस प्रक्रिया का विकास करना बहोत जरोरी है , और सही जानकारी समय –समय पर भी देना आवश्यक है Iइस कार्य के लिए बाल पत्रकारिता अपनी सर्वश्रेष्ठ भूमिका निभाती है I

एक पत्रकार की दुनिया पूरा समाज होता है जिसकी अपेक्षा और आवाज वह होता हैं। पत्रकार एक ऐसा मंच होता है जहां आम आदमी अपनी पीड़ा और तकलीफ लेकर बिना किसी औपचारिकता के वह पहुंच जाता है। पीड़ित व्यक्ति को न तो कोई फीस देनी होती है और न मिलने का समय पहले से तय करना होता है। पत्रकार पीड़ित की बात सुनता और समझता है तथा वह उन सबसे से सवाल करने पहुंच जाता है। तथ्य और तर्क के साथ वह खबर की शक्ल में समस्या को समाज के समक्ष रखता है।पत्रकार के प्रयासों से पीड़ित को राहत मिल जाती है और उसका विश्वास पत्रकारिता पर बढ़ जाता है। पत्रकारिता की यही पूंजी है और पत्रकार का यही सुख कि वह एक व्यक्ति के चेहरे पर मुस्कराहट देख सका। यह जज्बा आप बाल पत्रकारों में महसूस कर सकते हैं। वे समाज की आवाज उठा रहे हैं। वे पीड़ितों की आवाज बने हुये हैं।

पत्रिकाएं क्यों पढ़ते है बालक?-

बालक पत्रिका को आनंद और मनोरंजन के लिए पड़ता है Iवह ईएसआई पत्रिका पड़ना चाहता है ,जो दिमाग पर बोझ न बने बल्कि उसकी बोरियत कम करे Iपत्रिका को कही भी पढ़ा जा सकता है और अपनी सुविधानुसार नही पढ़ सकता है I

समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं का मूल उद्देश्य सदैव जनता की जागृति और जनता तक विचारों का सही संप्रेषण करना रहा है। महात्मा गांधी की पंक्तियाँ हैं : समाचार पत्र का पहला उद्देश्य जनता की इच्छाओं, विचारों को समझना और उन्हें व्यक्त करना है। दूसरा उद्देश्य जनता में वांछनीय भावनाओं को जागृत करना है।

पत्रकारिता के प्रमुख कार्य:-

पत्रकारिता आधुनिक सभ्यता का एक प्रमुख व्यवसाय है। जिसमें समाचारों का एकत्रीकरण ,लिखना, जानकारी एकत्र करके पहुंचाना, संपादित करना और समय से प्रस्तुतीकरण करना आदि सम्मिलित है ।आज की युग में पत्रकारिता के अनेक माध्यम हो गए हैं ।जैसे, अखबार ,पत्रिकाएं ,रेडियो ,दूरदर्शन, वेब पत्रकारिता आदि।

पत्रकारों के अधिकार:-

प्रेस का अधिकार ऐसा अधिकार है, जो किसी भी नागरिक को व्यक्तिगत रुप में प्रदान किया जाता है। प्रेस का संपादक या प्रबंधक जब भी समाचार पत्र के लिए लिखता है ,तो ,इसे वह एक नागरिक की हैसियत से उपलब्ध अधिकार का प्रयोग करते हुये, लिखता है।

पत्रकारिता का उद्देश:-

पत्रकारिता का मूल उद्देश सूचना देना, शिक्षित करना तथा मनोरंजन करना है ।इन तीनों उद्देश्यों में संपूर्ण पत्रकारिता का सारतत्व समाहित किया जा सकता है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण पत्रकारिता व्यक्ति और समाज के जीवन को गहराई प्रभावित करती है ।

पत्रकारिता का महत्त्व कई तरह से होता है-

- पत्रकारिता जनता को सूचित और शिक्षित करती है I
- पत्रकारिता लोकतंत्र को कायम रखती है और अभिव्यक्ति की आजादी की रक्षा करती है I
- पत्रकारिता नागिकों को सशक्त बनती है और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देती है I
- पत्रकारिता इतिहास को रिकॉर्ड करती है I

- पत्रकारिता ,किसी व्यक्ति या संघटन के बयां या कार्रवाई से जनता को गुमराह होने से रोकती है I
- पत्रकारिता सार्वजानिक महत्त्व की जानकारी एकत्र करने ,रिकॉर्ड करने ,सत्य स्तापित करने और उस पर रिपोर्ट करने का अभ्यास है I
- पत्रकारिता "बेजुबानो की आवाज़" के रूप में कार्य करती है,जो हमारे समाज के सभी सदस्यों के विचारों को व्यक्त करती है I
- पत्रकारिता समाज की दिग्दर्शिका और नियामिका है I

बालकों का विकास –जनसंचार माध्यम से लाभ – मनोरंजन,सूचना,शिक्षा , और सामाजिक ज्ञान एवं व्यक्तित्व का विकास बालकों का सर्वांगीं विकास होता है Iउनका सामान्य ज्ञान बढाती है Iविविध प्रकार की शिक्षाएं प्रदान करती है –जैसे- पहेलियाँ,खेल – क्रियाएं,कागज की1 कलाकृतियाँ आदि नीतियों की जानकारियां बच्चों के बौधिक विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैंIयह विचारों का अदन –प्रदान करता है I

यह बौधिक और शारीरिक विका में अपना व्यापक रूप निभाती है I विविध चित्रों से इनका मनन जीत लेते है इवे नए शब्द, विचारों और भाव भी सीखते है Iकहानियों से नए अनुभव लेते है Iशिल्प कला ,वैज्ञानिक क्रियाएं,क्रियात्मक खेल, और अनेक क्रिया-कलाप से उनके शारीरिक और भावात्मक विकास में पत्रिकाएं सराहनीय भूमिका निभाती है I अत: स्पष्ट है कि जनसंचार माद्यम बालकों के विकास में सर्वश्रेस्ट भूमिका निभाती हैI

बाल विकास के अध्ययन से बालक के व्यक्तित्व का विकास सरलता से किया जा सकता है। बालक में अनेक क्षमताएं एवं शक्तियां पाई जाती हैं तभी उचित दिशा में विकसित होती है । जब बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान अभिभावक को होता है।

आज के बच्चे कल के नागरिक है Iइनका सम्पूर्ण विकास करना अत्यंत आवश्यक है I बालकों को शिक्षित करना , दिशा देना, उनकी रुचियों को परिष्कृत करना और उनका विकास करना I बाल पत्रकारिता निरक्षरता हटाने, सामाजिक कुरीतिया
मिटने, अन्द्विश्वास दूर करने तथा विश्व भर में भाईचारा बढ़ने में उपयोगी है Iबच्चे गंभीर और उत्सुख पाठक होते है Iइसलिए जिम्मेदारी दुगनी बढ़ जाती है ,किस तरह के चित्र और सामग्री का प्रयोग करना चाहिए I

भारत की बाल पत्रकारिता में ज्यादातर पश्चमी संस्कृति पर ज्यादा बल दिया जाता है Iजिससे बालक भारत की संस्कृति से अपरिचित ही रह जायगा Iइसमें सुधार लाना चाहिए Iबाल पत्रकारिता में कम लेखक पाए जाते है Iसर्कार को वरीयता देनी चाहिए Iइसलिए हमारा कर्त्तव्य है बनता है कि वे राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय संपत्ति अपनी संस्कृति तथा अन्य विचारों के अंकुर रोपने के लिए बल-पत्रिकाओं को वरीयता दे,तो विकास, के स्टार पर पहुँच सकता है I इसके लिए हमें परिश्रम करना चाहिए I

"श्रम ही से सब मिलता है ,
बिनु श्रम मिली नकाहीI"

अत: हमारा यह कर्त्तव्य बनता है कि हमें अपने वर्त्तमान और भविष्य को स्वर्णिम और सुखमय बनाना चाहिए ,जिससे हमारा देश संसार में आदर्श बन सके Iबालक की उन्नति ही समाज और देश की उन्नति है I बालकों के अन्दर **आत्म विश्वास के लक्षण** होने चाहिए ताकि वे अपना कार्य सुद्रढ़ता से निभा सके और उत्कृष्ट भविष्य को बनाने में सफल हो सके Iबालकों की नीव पक्की हो तो महल बिना संदेह के मजबूत और स्थाई दृष्टिकोण वाला ,संस्कारयुक्त ,एवं संकल्प पूर्ण संस्कृति युक्त होगा I

आत्म विश्वास के लक्षण	अहंकार के लक्षण
मै अच्छा हूँ I मै हार **नहीं** सकता I हर मुकाबले के लिए तैयार हूँ I सफलता की ओर कदम	**1.**मै ही अच्छा हूँ I 2.मुझे कोई हरा **नहीं** सकताI 3.मेरा कोई मुकाबला ही **नहीं** है I *विनाश की ओर कदम

****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१.पत्रकारिता के विविध आयाम,डॉ.उ.क. गुप्ता, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, न्यू डेल्ही I
२.आधुनिक पत्रकारिता,अर्जुन तिअरी,वाणी प्रकाशन, न्यू डेल्ही.I
3. पत्रकारिता के विविध रूप, डॉ,रामचंद्र तिवारी,राजकमल प्रकाशन न्यू डेल्ही I
4. पत्रकारिता के मूल सिद्धान्त, गोपाल शर्मा,(२०००) वाणी प्रकाशन ,ने डेल्ही I
5. समकालीन हिंदी-पत्रकारिता, में नारी-सन्दर्भ (२००७) रमेश कुमार त्रिपाठी, नमन प्रकाशन, डेल्ही I

The Struggle for Social Equity : Dr. B.R. Ambedkar's Critique of Caste and Vision for a Just Society

Dr. Ashish Kumar Sonker
Associate Professor, Department of Political Science Vasant Kanya Mahavidyalaya, BHU, Varanasi

Abstract
The Indian Constitution fundamentally enshrines the ideals of social justice, positioning the legal system as a mechanism to foster equal opportunities and eliminate structural inequities. The state is obligated to cultivate a social order where economic, social, or other forms of disadvantage do not obstruct access to justice, thereby promoting substantive equality. This article engages with a theoretical exploration of Ambedkar's vision of social justice, situating his thought within broader discourses of justice, equality, and rights. It further interrogates the intersection of Ambedkar's struggles with the constitutional framework and critically evaluates the enduring relevance of his mission in contemporary discourses of social justice. Through this analysis, Ambedkar's contributions are not only historicized but also theoretically situated as a continuing critique of social stratification and institutional injustice. (Ambedkar, 1949; Rawls, 1971; Sen, 2009)

Keywords- Equality, liberty, fraternity, justice, struggle, constitution, caste system, discrimination

Concept of social justice

The concept of social justice, as it has evolved in both ancient and modern contexts, reflects a complex interplay of duties, rights, and equality. In ancient Indian thought, justice was primarily duty-bound, articulated through the frameworks of 'Dandaniti' (law and punishment) and 'Dharma' (moral duty), where justice was synonymous with virtuous conduct as prescribed by *dharma*. This understanding closely parallels the Platonic notion of justice, which also emphasized the performance of duties rather than the assertion of individual rights (Sharma, 2005).

Modern approaches to justice have shifted significantly. Liberal perspectives focus on individual rights and liberty as essential for a just society, whereas Marxist perspectives emphasize the necessity of eliminating social and economic inequalities to achieve justice (Rawls, 1971; Marx, 1844).

Social justice, in its contemporary form, emerged as a response to the evolving norms around social equity, order, and morality. It emphasizes just action, allowing for institutional interventions that promote social equality and protect individual rights. The term itself represents a synthesis of 'social,' pertaining to human relations in society, and 'justice,' which is fundamentally concerned with liberty, equality, and rights (Sen, 2009). Therefore, social justice is oriented towards ensuring liberty, equality, and the protection of individual rights to foster the highest possible development of each individual's capacities (Nussbaum,

Social justice is a multi-dimensional and comprehensive concept, interpreted variously by scholars in law, philosophy, and political science. It functions as a balancing force between the privileged and the marginalized, ensuring the protection of the vulnerable, such as the weak, aged, poor, and underprivileged (Dias,1985).AsProfessorR.M.W.Diasargues,justiceisadynamicandevolving process, balancing factors such as the allocation of advantages and disadvantages, prevention of the abuse of power, and adaptation to social changes (Dias,1985). In this sense, social justice extends beyond legal frameworks to encompass economic justice, striving to remove all forms of inequality based on caste, race, gender, or wealth, and to harmonize social rights with social controls (Rawls,

This conceptualization of social justice, therefore, underscores its role as a foundational principle in creating equitable societies, where the rule of law sustains not just legal justice but also economic and social fairness.

Dr. B.R. Ambedkar's ideas on social justice were rooted in a critique of caste- based oppression and social inequality in Indian society. Ambedkar viewed social justice as inseparable from the annihilation of caste and the creation of a just society where liberty, equality, and fraternity are upheld. Scholars like Aakash Singh Rathore and Anand Teltumbde have emphasized that Ambedkar's vision goes beyond legalistic reforms and focuses on the transformation of social structuresthat perpetuate discrimination (Rathore, 2020; Teltumbde, 2019). Ina similar vein, Gail Omvedt and Gopal Guru argue that Ambedkar's approach to social justice was deeply intersectional, encompassing economic and social justice to ensure the empowerment of the marginalized, particularly the Dalits and other oppressed classes (Omvedt, 1994; Guru, 2009).

Comparatively, Sudipta Kaviraj and Valerian Rodrigues offer a nuanced understanding of Ambedkar's social justice within the framework of Indian constitutionalism. Kaviraj highlights Ambedkar's role in framing the Constitution as a tool for social transformation, where in the rule of law serves as a mechanism to dismantle entrenched hierarchies (Kaviraj, 2010). Valerian Rodrigues, on the other hand, underscores the intellectual tensions between Ambedkar's radical views on social justice and the more conservative strands of Indian politics that sought incremental change (Rodrigues, 2002). Eleanor Zelliot and Arvind Elangovan, in contrast, argue that Ambedkar's ideas were revolutionary in that they called for a complete overhaul of social relations, viewing caste as an obstacle to achieving true democratic equality (Zelliot, 1979; Elangovan, 2014). In comparing these scholars, it becomes clear that while Ambedkar's ideas were broad and transformative, the interpretations of his Contributions range from legalistic to radical, offering a rich, multifaceted view of his vision for social justice in India.

Ancient HinduSociety-The *Varnashrama Dharma*, as maintained by the ancient Hindu legal system, institutionalized a rigid caste hierarchy, perpetuating social inequality and denying the fundamental principle that all humans are born equal. This caste- based stratification, which classified society into four *varnas*—Brahmins, Kshatriyas, Vaishyas, and Shudras—became a mechanism for preserving privileges for the higher castes, particularly the Brahmins, while relegating the majority to positions of subordination. The caste system, according to Ambedkar, was the antithesis of social justice, as it not only imposed dehumanizing occupations on the lower castes but also denied them access to education and upward mobility. Ambedkar critiqued the caste system as a form of graded inequality that fostered a social order where privilege and oppression were hereditary, thereby negating the principles of liberty, equality, and fraternity that he championed as essential for a just society (Ambedkar, 1936).

Ambedkar's understanding of the formation of caste was deeply structural and historical. He argued that caste was not a natural or organic division of labor but rather a religiously sanctioned system of power that preserved the privileges of the few at the expense of the many. In his work *Who Were the Shudras?*, Ambedkar traced the origins of caste to a deliberate effort by the Brahmins to monopolize power and social status through religious and cultural means. The *varna* system, in his view, served as the ideological justification for these divisions, with caste acting as a mechanism to keep certain groups in perpetual servitude (Ambedkar, 1946). While the Brahminical order played a key role in constructing and perpetuating the system, Ambedkar argued that caste was

Sustained by the complicity of the entire Hindu society, including the lower castes who internalized and reinforced these oppressive norms (Ambedkar, 1936).

Scholars like Gopal Guru and Aakash Singh Rathore reinforce Ambedkar's critique, asserting that caste was a tool for controlling labor and restricting social mobility, rather than a functional division of labor as often defended in Hindu texts (Guru, 2009; Rathore, 2020). Valerian Rodrigues and Gail Omvedt further emphasize that Ambedkar's analysis extended beyond economic exploitation to encompass social and psychological oppression, where caste divisions were reinforced even among the oppressed, creating a multi-layered system of inequality (Rodrigues, 2002; Omvedt, 1994). For Ambedkar, the caste system was not only a social and economic structure but a deeply spiritual and psychological one, maintained through religious doctrines that dehumanized the lower castes and entrenched Brahmanical dominance. This under standing led him to conclude that the caste system could only be dismantled through radical reforms aimed at eradicating its very foundations, both in terms of material inequality and cultural-religious legitimacy (Ambedkar, 1936; Jaffrelot, 2005).

This nuanced view reflects Ambedkar's belief that the caste system was a carefully constructed social control mechanism, upheld by both the privileged and the oppressed, and it required profound, systemic change to achieve true social justice.

Dr B.R. Ambedkar's Struggle for Social Justice--Dr. B.R. Ambedkar's approach to social justice is theoretically rich, grounded in his deep critique of the socio-religious structures that perpetuate inequality. His notion of social justice transcends merelegal or political reform and engages with the fundamental reordering of social relations, particularly through the dismantling of the caste system. Ambedkar's concept of justice is influenced by The principles of liberty, equality, and fraternity, which he saw as inter connected and essential for a just society. His theoretical framework builds on the idea that social justice cannot be understood purely in legalistic or procedural terms, but must address the structural and historical injustices that have marginalizedlarge sections of society, particularly Dalits and other oppressed communities (Ambedkar, 1936).

Ambedkar's vision of social justice is informed by a rejection of hierarchical social structures that are justified through religious and cultural traditions. He viewed the caste system as a form of "graded inequality" where each caste was ranked and privileged differently,

creating divisions even within the oppressed classes. This system, according to Ambedkar, was not only unjust but also antithetical to the very idea of a democratic society. He argued that the caste system institutionalized inequality by denying individuals the opportunity to transcend their birth status and achieve personal or social mobility. This analysis draws from Ambedkar's engagement with theories of social contract and justice, where he saw the caste system as a violation of the idea that all individuals are equal before the law and have an inherent dignity (Ambedkar,1946;Guru,2009).

Ambedkar's theoretical contribution to social justice also challenges classical liberal ideas that focus solely on formal equality. For Ambedkar, formal political equality-such as equal voting rights-was insufficient in a society where social and economic inequalities were entrenched. He advocated for what scholars call "substantive equality," where justice is not merely about equal treatment under the law but also involves affirmative actions to address the historical disadvantages faced by marginalized communities. This idea aligns with contemporary theories of social justice, such as those of John Rawls, who argue that justice requires addressing the "unjust starting points" of individuals, particularly those who are disadvantaged by historical or structural inequalities (Rawls,1971). Ambedkar's emphasis on affirmative action and preferential
treatment for Scheduled Castes and Scheduled Tribes was thus a key theoretical component of his vision, aimed at leveling the playing field for historically oppressed groups (Rodrigues, 2002).

Ambedkar's theoretical approach also incorporates a critical perspective on religion, particularly its role in sustaining social inequality. His critique of Hinduism, especially its justification of caste through religious texts like the Manusmriti, represents a radical departure from other social reformers of his time. Ambedkar did not view religion as a neutral or benign force but as a source of institutionalized oppression that must be reformed or rejected to achieve true justice. In this sense, Ambedkar's views align with critical social theories that see ideology and culture as central to the maintenance of power structures. His conversion to Buddhism was part of his theoretical response to the need for a religion based on rationality, humanism, and universal moral principles, which could support a just social order rather than reinforce inequality (Ambedkar, 1956; Omvedt, 1994).

Scholars like Valerian Rodrigues and Gopal Guru highlight that Ambedkar's conception of social justice is deeply transformative, aimed at restructuring the very foundations of social relations in India. Rodrigues points out that Ambedkar's vision was not merely about redressing immediate grievances but about creating a new social order where caste and class hierarchies were abolished,and human worth was based onmeritand individual capability rather than birth (Rodrigues, 2002). This aligns with theories of distributive justice, which focus on the fair allocation of resources and opportunities in society. Ambedkar's demand for land redistribution, economic reforms, and social policies aimed at uplifting the marginalized reflect his broader theoretical commitment to an egalitarian society where social and economic justice are foundational, not secondary, concerns (Jaffrelot, 2005).

In sum, Ambedkar's struggle for social justice represents a complex theoretical intervention into the debates on equality, liberty, and fraternity. His approach goes beyond mere legal reforms and seeks a radical restructuring of Indian society to eliminate the systemic injustices perpetuated by caste. His ideas are both historically grounded and forward-looking, offering a blueprint for addressing deep-rooted social and economic inequalities through a comprehensive frame work of substantive equality, affirmative action, and moral transformation. Ambedkar's work thus remains a cornerstone in theoretical discussions of justice, particularly in contexts where historical oppression and structural inequality continue to shape social relations.

Conclusion-In conclusion, Dr. B.R. Ambedkar's struggle for social justice is both a profound theoretical intervention and a practical blueprint for the transformation of Indian society. His critique of the caste system, grounded in his lived experience and scholarly analysis, revealed how deeply entrenched systems of graded inequality perpetuated oppression, particularly for Dalits and other marginalized communities. Ambedkar's vision of social justice goes beyond mere political and legal reforms, calling for a fundamental restructuring of social and economic relations. Scholars such as Christophe Jaffrelot and Gail Omvedt emphasize that Ambedkar's call for substantive equality—through affirmative action and social reform—was designed to address the deeply institutionalized disadvantages faced by the lower castes (Jaffrelot, 2005; Omvedt, 1994).

Ambedkar's approach to social justice, as noted by Gopal Guru and Valerian Rodrigues, demanded not just the eradication of caste but also the creation of a new social order based on liberty, equality, and fraternity. His insistence on preferential treatment for historically oppressed groups, like the Scheduled Castes and Scheduled Tribes, reflects his broader concern for distributive justice, Aligning with contemporary theories of justice such as those of John Rawls, which focus on leveling the

playing field for disadvantaged groups (Guru, 2009; Rodrigues, 2002).

Ambedkar's rejection of caste-based religious doctrines, such as those found in the Manusmriti, and his embrace of a rational, humanistic Buddhism underscore his commitment to amoral and ethical framework for social justice. As scholars like Gail Omvedt have argued, Ambedkar's transformation from a social reformer to a religious leader was part of his larger goal of creating a just society based on universal human values (Omvedt, 1994). His work continues to inspire contemporary social justice movements and remains a key theoretical and practical resource for those challenging structural inequality and advocating for a more inclusive and equitable society.

Thus, Ambedkar's struggle for social justice, as highlighted by various scholars, was not just a fight against caste oppression but a comprehensive vision of social, economic, and moral reform. His contributions have left an indelible mark on both the Indian Constitution and the broader discourse on social justice, making his legacy central to ongoing efforts to achieve true equality and justice in India.

****

References:-

1. Ambedkar, B.R. (1936).*Annihilation of Caste*. New Delhi : Arnold Publishers.
2. Ambedkar, B.R. (1946). *Who Were the Shudras?*. New Delhi : Thacker & Co.Ltd.
3. Ambedkar, B.R. (1956). *The Buddha and His Dhamma*. Nagpur : Siddharth College Publications.
4. Jaffrelot, C. (2005). *Dr. Ambedkar and Untouchability : Analysing and Fighting Caste*. New York : Columbia University Press.
5. Omvedt, G. (1994). *Dalits and the Democratic Revolution : Dr. Ambedkar and the Dalit Movement in Colonial India*. New Delhi : Sage Publications.
6. Rodrigues, V. (2002).*The Essential Writings of B.R. Ambedkar*. New Delhi : Oxford University Press.
7. Guru, G. (2009). *Humiliation : Claims and Context*. New Delhi : Oxford University Press.
8. Rathore, A.S. (2020).*Ambedkar's Preamble : A Secret History of the Constitution of India*. New Delhi : Penguin India.
9. Rawls, J. (1971). *ATheory of Justice*. Cambridge, MA : Harvard University Press.
10. Sen, A.(2009). *The Idea of Justice*. London : Penguin Books.
11. Zelliot, E. (1979).* From Untouchable to Dalit : Essays on the Ambedkar Movement*. New Delhi : Manohar.
12. Teltumbde, A. (2019).*The Radical in Ambedkar : Critical Reflections*. New Delhi : Navayana Publishing.
13. Rodrigues, V. (2008). "Ambedkar on Preferential Treatment and Social Justice." In M.L. Bose (Ed.),*Ambedkar and the Making of the Indian Constitution*. New Delhi : Gyan Publishing House.
14. Guru, G. & Sarukkai, S. (2012). *The Cracked Mirror : An Indian Debate on Experience and Theory*. New Delhi: Oxford University Press.
15. Menon, N. (2014). "Caste and Gender in India." *Economic and Political Weekly*,49(18),29-32.

STUDY TO ASSESS THE KNOWLEDGE REGARDING PATIENT SAFETY AMONG UNDERGRADUATE NURSING STUDENTS IN SELECTED NURSING COL-LEGE, BHOPAL (MP) -

UNDER THE GUIDANCE OF
BLESSY MATHEWS
DAVID V. DARYAPURKAR
BY DEEPA PAWAR, MUSKAN NAGAR, MANTU KUMAR, NIKHIL TIWARI, VANDANA BARKARE

ABSTRACT

A study was conducted to assess the knowledge of undergraduate nursing students about patient safety in selected Bhopal colleges. The study aimed to determine the pre-test level of patient safety knowledge, establish a correlation between patient safety knowledge and demographic factors, and compare the levels of patient safety knowledge among groups A and B. The research used an exploratory quantitative research design and involved 60 participants aged 20 to 28 years. The instrument used was a questionnaire and sociodemographic information. The non-probability purposive sampling approach was used to gather data. The results showed that Group A nursing students had an excellent knowledge distribution of 33.3%, average 60.0%, and poor 6.7%, while Group B had a good knowledge distribution of 13.3%, average 36.7%, and bad 50.0%. The chi-squared test revealed a significant difference between patient safety knowledge and demographic characteristics. The study also compared two nursing colleges in terms of patient safety using their demographic factors, revealing a table value of 2.048 and a calculated value of 6.85.

KEYWORDS: Undergraduate, Patient Safety, Demographic, Non-Probability.

INTRODUCTION:

The first goal of every healthcare institution is patient safety. Patient safety is the absence of avoidable harm to a patient while they are receiving medical treatment. For every patient, one of the most important factors is patient safety. Even while hospital accidents cannot be totally avoided, we can create an environment where such injuries may be avoided. There have been several incidents worldwide that have the potential to injure patients when they are being moved or lifted, as well as instances where medical personnel

and their families fail to pay attention. A safety measure is a method by which we may protect the patient from an unintentional fall. Health care professionals often offer treatment for immobile patients who need posture correction, bed movement, or transitions from a bed to a chair or stretcher. The patient must be lifted into and out of bed in order to move or operate. It is necessary for ambulators to understand and use appropriate body mechanics in order to lift or move patients. Safety may be characterized as the lack of exposure to risk and defense against the possibility of harm or loss. The absence of possible or needless harm to the patient as a result of medical treatment is what the World Health Organization defines as patient safety.

OBJECTIVES:

- To assess the pre - test level of knowledge regarding patient safety among undergraduate nursing student.
- To associate between knowledge regarding patient safety and selected demographic variables.
- To compare the level of knowledge regarding patient safety among nursing students of groupA & Group B.

REVIEW OF LITERATURE:

Patient safety is a healthcare direction that has emerged due to the development of healthcare systems and the resulting increase in problems related to safe patient care in healthcare facilities. It aims to prevent and reduce the risks, errors, and harm patients experiences during treatment. The core idea behind the discipline of safe patient care is to improve patient care and safe treatment based on falsehood and adverse event studies. Therefore, quality healthcare worldwide must be efficient, safe, and people oriented.

Our review expects to figure out the attributes of opiate occurrences and consequently suggest mediations for opiate stewardship. Our review was directed inside a 442-bed scholarly wellbeing sciences focus in Ontario. We separated anonymized opiate occurrence reports which happened more than a 3-year time span from the More secure Framework. Expressive insights were used to dissect opiate occurrences and their contributory variables 272 opiate episode reports were submitted to More secure inside the review period. Most occurrences (51%) involved hydromorphone and morphine and were fundamentally arranged as Level I (n = 154) and Level II (n = 60). Erroneous opiate dosing (44%), and opiate count disparities (27%) were generally usually detailed with dynamic disappointments being the most regularly announced contributory factors, for example, inability to survey drug orders before opiate organization.

Patient Distinguishing proof Strategies - Approaches, Suggestions, and Findings. The Objective of the review is to recognize current patient ID methods and approaches utilized overall in the present medical services climate. Techniques: A writing survey of pertinent companion investigated and dim writing distributed from January 2015 to October 2019 was directed to illuminate the paper. The attention was on: 1) patient recognizable proof methods and 2) potentially negative side-effects and consequences of irritating patient ID issues. The writing audit showed six normal patient distinguishing proof strategies executed overall going from one of a kind patient identifiers, algorithmic methodologies, referential matching programming, biometrics, radio recurrence 8 Distinguishing proof gadget (RFID) frameworks and crossover models. The survey uncovered three subjects related with unsettled patient ID: 1) Treatment, care conveyance, and patient security mistakes, 2) cost and asset contemplations, and 3) data sharing and interoperability challenges

Factors related with fringe intravenous cannulation first -time addition progress in the crisis office. We utilized a comfort examining technique because of restricted financing. Australasian Emergency Scale (ATS) 1-5 appraisal score. An objective example size of 1000 patients considered 10% wearing down. Test size gauge was expected to consider clinically significant inferences total of 1201 PIVCs were embedded in 879 patients. The mean age was 60.3 (SD 22) years with somewhat more females (52%). The FTIS rate was 73%, with 128 (15%) requiring a subsequent endeavor and 83 (9%) requiring at least three endeavors. A little rate (3%) had no recorded number of ensuing endeavors. FTIS was connected with the accompanying patient elements: age (for a 1-year expansion in age: OR 0.99, 95% CI 0.983 to 0.998; p=0.0097); and target vein substantialness: (consistently obvious versus never unmistakable: OR 2.20, 95% CI 1.06 to 4.57; p=0.0014).

Objective: The motivation behind this precise writing survey was to distinguish and dissect quantitative examinations using or coordinating artificial intelligence to address and report clinical-level patient security outcomes We zeroed in on quantitative examinations that announced positive, negative, or halfway changes in persistent wellbeing results utilizing 9 artificial intelligence applications, explicitly those in view of AI calculations and normal language handling. Quantitative examinations announcing just artificial intelligence execution yet not its effect on persistent security results were Rejected from additional survey. Perceived wellbeing subcategories were clinical alerts (n= 9; fundamentally founded on choice tree models), clinical reports (n= 21; in light of help vector machine models),

and medication security (n= 23; mostly founded on choice tree models). Examination of these 53 examinations additionally distinguished two fundamental findings: This deliberate audit shows that man-made intelligence empowered choice emotionally supportive networks, when carried out accurately, can help with upgrading patient security by further developing mistake identification.

Systematic Review on Hand Hygiene Knowledge and Compliance in Nursing StudentsA systematic literature review was conducted on studies published from 2006 to 2016. Databases searched included PubMed, Embase, CINAHL, Proquest, and PsychINFO, using terms such as "handwashing," hand hygiene," compliance, "knowledge, ""practice," and "nursing students." A total of 19 studies were included, revealing generally low-to- moderate levels of hand hygiene knowledge and compliance among nursing student.

Quantitative methodology with illustrative overview configuration was utilized for the review. Staff Medical attendants accessible during information assortment and ready to partake were incorporated. Purposive testing strategy was utilized to select the members to survey the information. Greater part 89(82.4%) of the members had normal information, 18(16.7%) had great information on counteraction of catheter related urinary parcel contaminations. There was most extreme resistance to the procedural strides while 10 performing pee example assortment, evacuation of urinary catheter and support of urinary catheter. Attendants must know of medical clinic arrangements and rules in doing techniques like urinary catheter addition, assortment of pee examples and support of inhabiting urinary catheter.

RESEARCH METHODOLOGY:

Research approach: Quantitative research approach is adopted.

Research Design: Exploratory research design is adopted.

Research Setting - The study was conducted at selected Nursing colleges of Bhopal MP.

Population - The Population of the Study was all the undergraduate nursing students.

Study Sample – B.Sc. nursing III year under graduate nursing students who are going to internship.

Sample size - Total 60 undergraduate nursing students, 30 from Career College of nursing and 30 from Corporate College of Nursing Bhopal. 3.7 Sampling Criteria.

INCLUSION CRITERIA

- · Students are included who were in undergraduate nursing III year.
- · Students who are available at the time of data collection.

EXCLUSION CRITERIA

- Students who were sick at the time of data collection.
- Supplementary students were excluded.

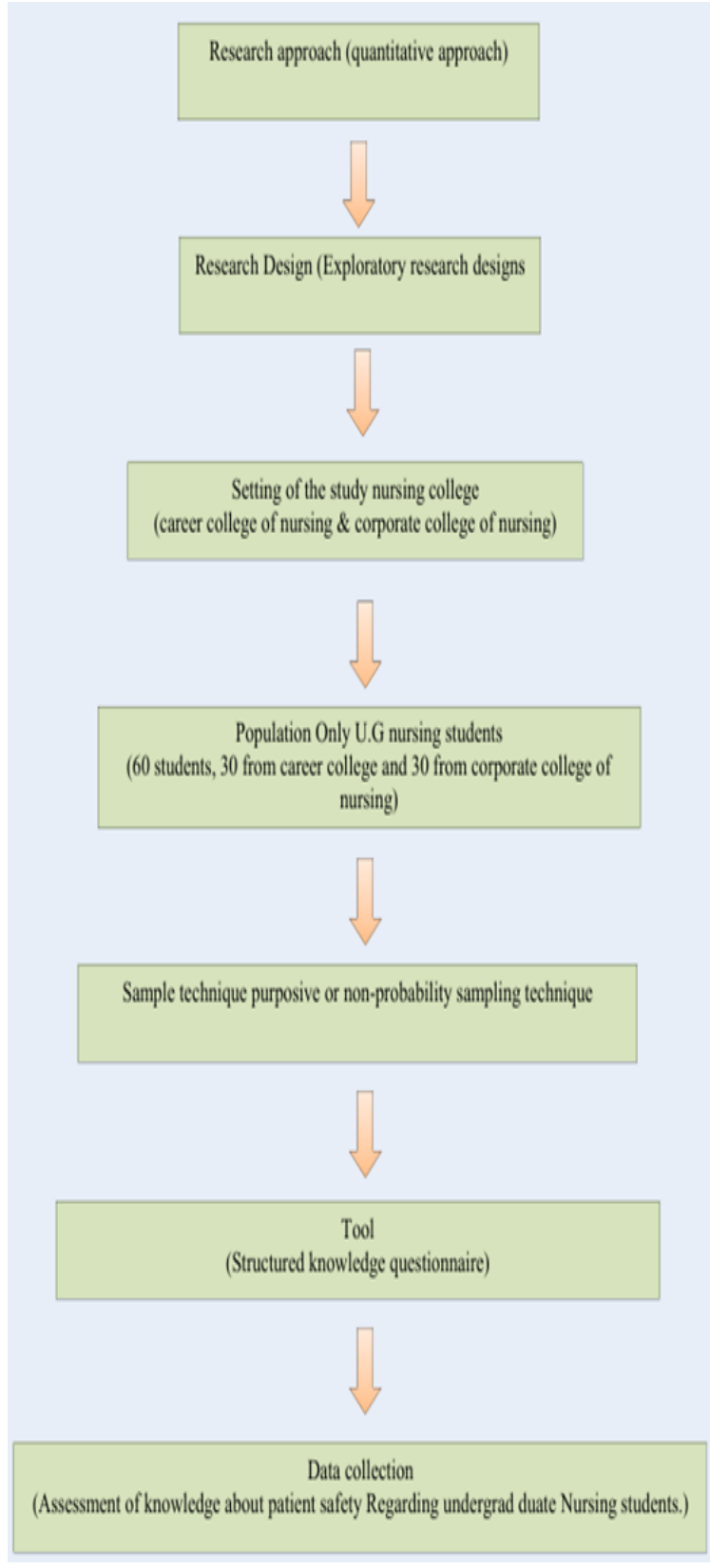

Figure 1: Research Design

DATA ANALYSIS:-

This part deal with analysis and interpretation of data collected from 60 students. To assess the knowledge regarding patient safety and associates selected demographic variables. The data collected from 60 BSC nursing final year students. The analysis and interpretation was based on the data collected through structured, knowledge, questionnaire. Master data sheet was prepared and the data were analysis based on the objective and hypothesis using descriptive and inferential statistics.

The survey primarily consists of participants from the 20-22 age group (50 respondents), followed by a smaller representation from the 23-25 (7 respondents) and 26 -28 (3 respondents) age groups. No respondents belong to the 29-35 age group, indicating that the study predominantly targets younger individuals, likely students or early-career professionals. In terms of gender distribution, the majority of participants identify as female (42 respondents), while 18 identify as male, highlighting a higher representation of females in the study. Regarding prior knowledge about patient safety, 39 participants reported having knowledge about it, while 7 stated they had no prior knowledge.

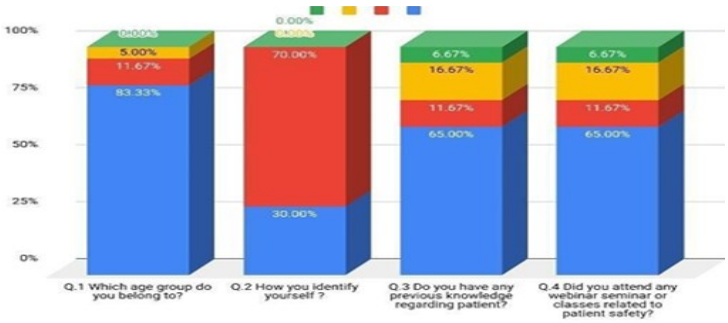

Figure 2: Frequency and percentage distribution of undergraduate nursing students regarding knowledge assessment on patient safety with demographics variables.

The data reveals that the majority of respondents (50) belong to the 20-22 age group, indicating that the survey's primary audience consists of young adults. This group likely represents students or early-career professionals, which aligns with a demographic that may still be in educational or training phases of their careers.

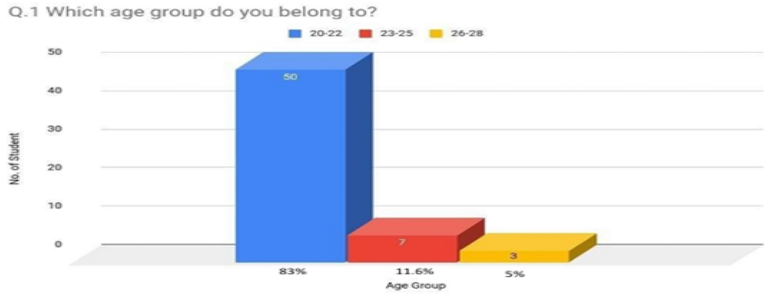

Figure 3: Percentage distribution of nursing students according to age

Table 1: Chi-square and p-value distribution of knowledge of undergraduate Nursing students regarding patients.

Demographic Variable	Poor 0-10(%)		Average 11-20(%)	Good 21-30(%)	Chi-Square	Degrees of Freedom (df)	p-value	Significant (S) / Not Significant (NS)
Age	1	13	21	10	3.17	4	0.53	NS
	2	4	5	1				
	3	0	5	1				
Gender	1	6	4	2	2.41	2	0.3	NS
	2	11	27	10				
Previous knowledge	1	10	22	6	4.7	6	0.59	NS
	2	0	3	1				
	3	6	4	4				
	4	1	2	1				
Webinar seminar	1	9	22	5	12.62	6	0.05	S
	2	3	8	3				
	3	0	0	0				
	4	5	1	4				

The given data summarizes the relationships between demographic variables and their knowledge/perception scores (categorized as Poor, Average, and Good). Statistical analysis was performed using the Chi-Square test, with degrees of freedom (df) and p values determining the significance.

Age Chi-Square Value: 3.17; Degrees of Freedom: 4; p-value: 0.53; Significance: Not Significant (NS) There is no significant relationship between age and the knowledge/perception scores. The distribution across the three categories (Poor, Average, and Good) does not vary significantly with age.

Gender - Chi-Square Value: 2.41; Degrees of Freedom: 2; p-value: 0.3; Significance: Not Significant (NS) The relationship between gender and knowledge/perception scores is also not statistically significant. The data indicates that gender does not have a notable impact on the distribution of scores.

Previous Knowledge - Chi-Square Value: 4.7; Degrees of Freedom: 6; p-value: 0.59; Significance: Not Significant (NS)

The results indicate no significant association between previous knowledge and knowledge/perception scores. The scores do not show a notable variation based on prior knowledge levels. Attendance in Webinar/ Seminar - Chi-Square Value: 12.62; Degrees of Freedom: 6; p-value: 0.05; Significance: Significant (S) There is a significant relationship between attendance

in webinars/seminars and the knowledge/perception scores. Participants attending webinars/seminars had higher scores in the "Good" category, suggesting a positive impact on knowledge and perception. Out of the four demographic variables analyzed, only webinar/seminar attendance showed a statistically significant relationship with knowledge/perception scores. This highlights the importance of educational interventions such as webinars and seminars in enhancing understanding and awareness. Other factors, such as age, gender, and previous knowledge, did not significantly influence the scores.

CONCLUSION

Distribution of BSC Nursing students on the basis of group A and group B regarding knowledge assessment of patient safety. Maximum number of students 50 (83%) were in the age group of 20-22 year, 7(11.6%)were in the age group 23-25year and 3(5%) were in the age group 26 -28 year, maximum number of female students is 42 (70.0%) and male 18(30.0%), maximum number of students which have previous knowledge regarding patient safety is 39(65%) and 7(11.67%) students have no previous knowledge, and 10(16.67%) students were hear about it, 4(6.67%) students were studied about it. Maximum 39(65%) student were attending the webinar, seminar or classes related to Patient safety, 7(11.67%) students do not attend any webinar seminar or classes and 10(16.67%) students were not sure and 4(6.67%) students were doubtful.

The knowledge level of group A nursing students are good 33.3%, average 60.0% and poor 6.7% and the knowledge level of group A nursing students are good 13.3%, average 36.7% and poor 50.0%. After the knowledge assessment of group A and group B maximum number of students are good 33%in group A and 13% in group B, average number of student is 60% in group A and 36.7%in group B, number of poor student is 6.7%in group A or 50% in group B. Finding related to association between knowledge and selected demographic variables - Shows the association of knowledge score with demographic variable by chi test the obtain chi value of the age is 3.17% at 4(df), gender was 2.41 at 2(df), previous knowledge was 4.7at 6(df) and Webinar seminar was 12.62 at 6(df). In the ongoing review the act of patient security among wellbeing science understudies was low and not exactly 50% of the understudies had great information and good perspectives toward patient security. Patient security rehearses were impacted by the length of the clinical connection. Assess the knowledge of B.sc nursing final year students regarding patient safety. On the basis of findings of the study the following conclusions were made.

REFERENCES:-

1. Altmiller, G. (2020). Student perceptions of patient safety: Education strategies for nursing programs. *Nurse Educator Today, 92*, 104531. https://doi.org/10.1016/j.nedt.2020.104531
2. American Association of Colleges of Nursing. (2019). *The essentials of baccalaureate education for professional nursing practice*. American Association of Colleges of Nursing.
3. Armstrong, G., & Barton, J. (2021). The role of simulation in teaching patient safety to undergraduate nursing students. *Clinical Simulation in Nursing, 54*, 101–107. https://doi.org/10.1016/j.ecns.2021.06.008
4. Brady, A. M., Malone, A. M., & Fleming, S. (2019). Teaching patient safety to undergraduate nursing students: Evaluation of a simulation -based approach. *Journal of Clinical Nursing, 28*(15-16), 2952–2961. https://doi.org/10.1111/jocn.14903
5. Ginsburg, L. R., Castel, E., Tregunno, D., & Norton, P. G. (2018). The H-PEPSS: An instrument to measure health professionals' perceptions of patient safety competence at entry to practice. BMJ Quality & Safety, 21(8), 676–684. https://doi.org/10.1136/bmjqs-2017-006818
6. Institute of Medicine. (2000). To err is human: Building a safer health system. National Academy Press.
7. James, J. T. (2019). A new, evidence-based estimate of patient harms associated with hospital care. Journal of Patient Safety, 15(3), 193 –201. https://doi.org/10.1097/PTS.0000000000000626
8. Jones, A., & Smith, R. (2021). Nursing students' knowledge and attitudes toward patient safety: A systematic review. Journal of Nursing Education, 60(3), 145–152. https://doi.org/10.3928/01484834-20210216-05
9. Mansour, M. (2020). Examining patient safety knowledge among undergraduate nursing students in different educational settings. Nurse Education in Practice, 50, 102914. https://doi.org/10.1016/j.nepr.2020.102914
10. Montgomery, P., & Brown, S. J. (2020). Embedding patient safety culture in undergraduate nursing education. Nurse Educator Today, 95, 104596. https://doi.org/10.1016/j.nedt.2020.104596
11. World Health Organization. (2019). Patient safety curriculum guide: Multi-professional edition. World Health Organization. https://www.who.int/patientsafety
12. Zhang, Y., Zheng, Q., Wang, J., & Xu, M. (2022). The effect of patient safety education on nursing students: A meta-analysis of randomized controlled trials. Nursing Education Perspectives, 43(2), 98–104. https://doi.org/10.1097/01.NEP.0000000000000925

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी यात्रा-साहित्य में पर्यावरणीय विमर्श

डॉ.रत्नेश कुमार यादव
सहायक आचार्य, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग
जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय, राया-सुचानी बागला, जिला साम्बा, जम्मू-कश्मीर -181143
ई-मेल:ratnesh.hnd@cujammu.ac.in, मो.9560046944
कमल दीप सिंह
पी.एच.डी.(शोधार्थी) हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग
जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय, राया-सुचानी बागला, जिला साम्बा, जम्मू-कश्मीर -181143

शोध सारांश- हिंदी साहित्य में जिन विमर्शों की शुरुआत हुई,उनमें पर्यावरणीय विमर्श एक महत्वपूर्ण विमर्श है। मानव, चारों ओर से पर्यावरण-प्रकृति से जुड़ा हुआ है। वह प्रकृति से अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को प्राप्त करता है। ऐसे में इन प्रकृति प्रदत्त संसाधनों का प्रयोग जब संपूर्ण उपयोग कर लेने की दृष्टि से किया जाता है तब पर्यावरण असंतुलन हमारे सामने आता है। इससे ही हम कई प्रकार की प्राकृतिक आपदाएँ देखते हैं। प्रस्तुत शोध आलेख हिंदी यात्रा-साहित्य में पर्यावरणीय विमर्श को पेश करता है। हिंदी यात्रा-साहित्यकारों ने अपने वृत्तांतों में पर्यावरण से सम्बंधित विचारों, स्थितियों को सामने रखा है। समाज किस प्रकार प्रकृति और पर्यावरण के प्रति असंवेदनशील बनता जा रहा है। जहाँ उसे प्रकृति से समन्वय बैठाकर चलना चाहिए, वह प्रकृति का अति उपभोग कर रहा है। इससे कैसे प्राकृतिक संसाधनों में निरंतर गिरावट आ रही है? प्रकृति के महत्त्व एवं मनुष्य के इसी प्रकार के पर्यावरण से सम्बंधित चिंतन को प्रस्तुत शोधालेख में हिंदी यात्रा-साहित्य के माध्यम से देखा गया है।

बीज शब्द-विमर्श,यात्रा साहित्य,पारिस्थितिकी,सतत,विकास,पर्यावरण

साहित्य मानव जीवन का आईना है। साहित्य में हमें मानव जीवन के सभी रसों का समावेश देखने को मिलता है। मानव के हर्ष-विषाद,पीड़ा, सुख-दुःख, अकेलापन, जीवन की विभिन्न समस्याएं हमें साहित्य में जीवंत रूप में देखने को मिलती हैं। साहित्य का सम्बन्ध कल्पना लोक से लेकर यथार्थ की भूमि पर मानव व्यवहार उसके परिवेश का चिंतन व्यक्त करने से है। हिंदी साहित्य स्वतंत्रता के बाद अपने पुराने विषयों से हटकर नए विषयों की ओर बढ़ा जहाँ साहित्य में शनैः-शनैः विमर्शों का आगमन प्रारम्भ हुआ। विमर्श का सामान्य अर्थ एक चिंतन है जिसमें अक्सर हाशिये पर पड़े जन-समूह, विषयों को मुख्य धारा में लाने का चिंतन व्यक्त होता है। नब्बे के दशक में हुए उदारीकरण के बाद भारत में जो वैश्वीकरण का दौर शुरू हुआ उनके फलस्वरूप कई प्रकार के सामाजिक परिवर्तन भी देखने को मिलते हैं। इसी दौर के साहित्य में विमर्शों को एक प्रमुख स्थान मिला। दलित विमर्श ,स्त्री विमर्श और आदिवासी विमर्श जैसे प्रश्न लेखन के केंद्र में रहे धीरे-धीरे विमर्श में वृद्ध विमर्श,पर्यावरण विमर्श भी साहित्य पटल पर उभरे। साहित्य जिन समकालीन समस्याओं का अंकन करता है उनमें पर्यावरणीय संकट से जूझते विश्व,विकास और विनाश की बहस पर चर्चा स्वाभाविक है। इन पर्यावरणीय संकटों से जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों को साहित्यकारों ने अनुभवजनित विचारों से शब्दों में ढाला है। हमारे आस-पास का वातावरण जिससे हम घिरे रहते हैं वह पर्यावरण है। नदी, पहाड़, जल, भूमि, वायु आदि इसके भाग हैं। मनुष्य के साथ-साथ सभी प्रकार के जीव-जंतुओं के लिए पर्यावरण का संतुलित होना आवश्यक है। असंतुलन की स्थिति में कई प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं का सामना करना पड़ता है। इसके लिए विश्व स्तर पर कई प्रयास किये जा रहे हैं। पर्यावरण संरक्षण और जलवायु परिवर्तन को संतुलित करने के लिए कई प्रयास दिखाई देते हैं। इन सब के बावजूद आधुनिक उपभोक्तावादी समय में विकास के नाम पर पर्यावरण का अत्यधिक दोहन हो रहा है। इनका परिणाम हमें आपदाओं में देखने को मिलता है। जहाँ विकास और विनाश के बीच बहस होती है, एक ओर विकास का प्रयास किया जा रहा है जो भारत जैसे देशों के लिए महत्वपूर्ण है, जहाँ विश्व स्तर के पर्यावरण संरक्षण के प्रयासों को लागू करते हुए विकास का प्रयास किया जा रहा है वहीं अमेरिका जैसे देश जिन्होंने अपने राष्ट्रीय हित के नाम पर 'पेरिस जलवायु समझौते' से स्वयं को अलग कर लिया। इसी प्रकार आधुनिक भूमंडलीकरण के दौर में विकास के नाम पर अंधाधुंध पर्यावरण का ह्रास हो रहा है। साहित्य समाज को व्यक्त करता है। मानव समाज के भावों, समस्याओं को चित्रित करता साहित्य नए दौर की समस्याओं को व्यक्त करता है। हिंदी साहित्य में देखें तो साहित्य की सभी विधाओं में पर्यावरण विमर्श देखने को मिलता है। प्रस्तुत शोध-आलेख में यात्रा-साहित्य को केंद्र में रखकर पर्यावरण विमर्श का अवलोकन किया गया है। यात्रा-साहित्य एक यथार्थवादी साहित्य विधा है। यह विधा प्रकृति से सम्बंधित है। प्रकृति का घुमक्कड़ी द्वारा किया जाने वाला अवलोकन यात्रा-साहित्य होता है। चूँकि यह विधा प्रकृति के सबसे अधिक समीप साहित्य विधा है, अतः इसमें प्रकृति-प्रेम, उसके दोहन के प्रति चिंतित होना स्वाभाविक रूप में दर्ज़ होता है। हिंदी में भारतेंदुयुग से इस विधा का सूत्रपात होता है जो राहुल सांकृत्यायन के समय में विशेष रूप में फलती-फूलती हुई साहित्य विधा का स्थान प्राप्त करती है।

भारत प्राकृतिक रूप से विविधता से भरा हुआ है। यहाँ सदैव हिम से भरे हिमालय पर्वत श्रृंखलाएं हैं तो गंगा-यमुना का विशालकाय मैदानी क्षेत्र है। एक ओर थार का मरुस्थल है तो दूसरी ओर पूर्वोत्तर के वन हैं, दक्षिण का समुद्री क्षेत्र है। इतनी अधिक विविधता वाला भारत देश प्राकृतिक रूप से संपन्न है। यह संसाधन सदैव बने रहे इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसका यथोचित उपभोग किया जाए। विकास की अंधी दौर में इसका अंधाधुंध दोहन हमारे पर्यावरण को हानि पहुँचा रहा है। विमर्श एक चिंतन प्रस्तुत करता है। वह समाधान के स्थान पर अक्सर विचार को पेश करते हुए पाठक के सम्मुख रखता है। हिंदी का यात्रा-साहित्य पर्यावरण से सम्बंधित सभी प्रकार के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। पर्यावरण के बचाव और संरक्षण के लिए जागरूकता की आवश्यकता है। भारत में इस सम्बन्ध में कई कार्यक्रम चलाये गये। टेलीविजन एवं अन्य सम्प्रेषण माध्यमों के द्वारा पर्यावरण को साफ़ रखने की बात जनमानस तक पहुंचाई गई। वर्ष 2014 में शुरू किया गया 'स्वच्छभारत अभियान' इसी प्रकार का एक उदाहरण है। इस प्रकार जागरूकता की हमारे समाज को कितनी आवश्यकता है, यह साहित्य के अध्ययन से समझ आता है। नीरज मुसाफ़िर अपने यात्रा -साहित्य 'सुनो लद्दाख' में एक ऐसी स्थिति का चित्रण करते हैं जहाँ वे पाते हैं कि एक विदेशी सैलानी और भारतीय सैलानी की व्यवहार में

कितना अन्तर है। जहाँ विदेशी सैलानी कूड़ा एकत्रित कर उसे कूड़ेदान में डालता दिखाई देता है वहीं अधिकतर भारतीय सैलानी ऐसा नहीं करते। नीरज मुसाफ़िर लिखते हैं- "वह यहाँ इधर-उधर पड़े कूड़े को एक जगह इकट्ठा कर रहा था। मैं और विधान शर्मिंदा हो गये कि हम लोग इतनी अच्छी जगहों पर कूड़ा फैला देते हैं और ये विदेशी दूर देश से आकर कूड़े को एक जगह इकट्ठा कर रहे हैं।...कृपया इसे अपनी आदत बना लीजिए कि कहीं भी कचरा इधर-उधर नहीं फैलाना है। यह एक अच्छी आदत है।"1 पहाड़ी क्षेत्र घूमने का प्रमुख स्थान है इन क्षेत्रों में प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में लोग घूमने आते हैं। पहाड़ जिनको आकर्षित करते हैं वे पहाड़ पर चले आते हैं। लाखों की संख्या में आने वाले लोगों में कितने ऐसे हैं जो इस कर्तव्य को समझते हैं कि आप जहाँ घूम-फिर रहे हैं वहाँ का पारिस्थितिकी तंत्र किस तरह प्रभावित हो रहा है। यह देखने-समझने का विषय है कि यह प्रभाव वहाँ के लोगों और पर्यावरण को कैसे प्रभावित करता है। जब कोई अन्य क्षेत्र का व्यक्ति पहाड़ों पर जाता है तो वह अपने साथ अपनी जीवन शैली को भी ले जाता है। इसी प्रकार पहाड़ का निवासी कैसे अपने पर्यावरण को हानि पहुँचा रहा है, जिसके दूरगामी परिणाम सामने आते हैं। इसका विवरण– अज्ञेय अपने यात्रा-वृतांत 'अरे यायावर रहेगा याद' में देते हैं " पहाड़ों पर हम सभ्य लोगों की कृपा से जो कुछ हो रहा है, उस की माँग है कि हम परिस्थिति की जाँच करें केवल पर्वतीय प्रदेश की नहीं, अपनी परिस्थिति की जाँच करें। सैर के लिए पर्वतों में गया हुआ सभ्य सामाजिक मानव अपना अध:पतन और गंदगी वहाँ भी बिखेर आया है...हम लोगों ने भी पहाड़ों की पुण्य-भूमि पर पतन और रोग और मृत्यु की गहरी रेखा खींच दी है। "2

हिमालयी क्षेत्रों में पर्यावरण हानि का एक दुष्परिणाम उन क्षेत्रों में सदियों से बहने वाले नदी, झीलें आदि के सूखने के रूप में हमारे सामने है। जलवायु में हो रहे बदलाव के चलते कई जल-स्त्रोत सूख रहें हैं, हिमालय में जमीं बर्फ़ पिघल रही है, जिससे वहाँ का पारिस्थितिकी तंत्र बुरी तरह प्रभावित हो रहा है। इस दोहन के चलते कई तरह की आपदाएँ सामने आ रहीं हैं। बाढ़ से लेकर सूखा,भू-स्खलन पहाड़ों का टूटना जैसी समस्याएं रोज़ समाचार-पत्रों में देखी जा सकती हैं। पहाड़ जहाँ जल के कई प्राकृतिक स्त्रोत होते हैं, वे सूख रहे हैं। झीलों के आस-पास बे-लगाम पर्यटन के चलते उसके दुष्परिणाम हैं कि वहाँ का जल-स्तर कम हो रहा है। सारे प्राकृतिक संसाधनों को वस्तुओं के समान बेचा जा रहा है। "नैनीताल की झील सूखने लगी है। देखकर दु:ख भी हुआ। पर्यावरणविद और अन्य जानकार कहते हैं कि अत्यधिक दोहन से यह झील सूख रही है। पानी के सोते सूख रहे हैं, दोहन चल रहा है। "3

भारतीय समाज एक प्रकृति पूजक समाज रहा है। प्रकृति को यहाँ देवताओं के रूप में पूजा जाता है। यहाँ के मानव समाज में प्रकृति को एक स्थान दिया है जहाँ वे अपने को उससे कम रखते हैं। प्रकृति मानव का भरण-पोषण करती आई है। मानव इसके बिना अपने जीवन की कल्पना नहीं कर सकता है। भारतीय समाज पर्यावरण की दृष्टि से इतना सजग रहा है कि इसने नदियों को माँ की संज्ञा दी है। समय के साथ औद्योगिक युग में जैसे-जैसे उपभोक्तावाद को बढ़ावा मिला यह विचार पिछड़ा माना जाने लगा। इसके प्रति एक ही दृष्टि उत्पन्न की गई। प्रकृति पूजक यह समाज आज उसी बदलाव के चलते अंधाधुंध उसका दोहन कर रहा है। इस दोहन की कोई सीमा नहीं हैं। यह उपयोग करने और छोड़ देने वाली वस्तु के समान हो गया है। प्रकृति एक ऐसा संसाधन है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलता है। आज की पीढ़ी जिस प्रकार से प्राकृतिक संसाधनों का उपभोग कर रही है उससे यह संभव है कि आने वाली पीढ़ी इस प्रकृति से न जुड़ पाए अथवा यह उसे उस रूप में न मिले जैसे उसे मिलनी चाहिए। इसलिए आवश्यक है कि विकास एक सतत प्रक्रिया के रूप में अपनाया जाए। पर्यावरण के संसाधनों का प्रयोग ज़रूरत के हिसाब से किया जाए,न कि उपभोक्ता के रूप में। जैसा कि महात्मा गाँधी ने कहा है 'पृथ्वी के पास सभी की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त संसाधन हैं, लेकिन एक व्यक्ति के लालच को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त नहीं है।' यह लालच सतत विकास की अवधारणा को न समझ कर उसे आज ही प्रयोग कर लेने का विचार है। अजय सोडानी इस दोहन के विषय में लिखते हैं। कैसे प्रकृति का दोहन हो रहा है? लोग साफ़-सफाई को केवल घर तक सीमित रखते हैं। "उफ़ कैसे बलात्कारी लोग थे वे जो प्रकृति की बेदाग़ गोद में अपना पाप छोड़कर चले गए। हम हैं ही कुछ ऐसे कि सफाई की हमारी परिभाषा हमको सिर्फ स्वयं के आँगन की साफ़-सफाई तक ही सीमित हैं।"4

भारत में आज भी ऐसे कई क्षेत्र हैं जो पिछड़े हुए हैं। इन क्षेत्रों में विकास के लिए वहाँ के पर्यावरण को नुकसान पहुँचता है। ये क्षेत्र एक प्रकार से आधुनिक सुविधाओं से वंचित हैं ऐसे में वहाँ उन मूलभूत सुविधाओं तक पहुँचाने के लिए वहाँ के पर्यावरण को हानि पहुँचती है। ऐसे में विकास और पर्यावरण हानि का प्रश्न सामने आता है। कई बार इन क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों पर वहाँ के जनमानस का अधिकार नहीं होता है। यहाँ प्रश्न है कि अपने सामान्य उपभोग के अतिरिक्त उसका दोहन की स्थिति में वहाँ का विकास संभव नहीं हो सकता। अब ऐसे में इन क्षेत्रों में पर्यावरण से संबंधित बातों को प्रस्तुत करना बिना अर्थ का लगता है। दर्रा-दर्रा हिमालय में अजय सोडानी इसी स्थिति को बताते हैं- "शहरों में जो सुविधाएँ हमें सहज प्राप्य हैं। उनका सपना देखते-देखते ग्रामीणों की पीढ़ियाँ बदल जाती हैं। ऐसे में उन्हें पर्यावरण संरक्षण सम्बंधित हमारे भाषणों में कोई नज़र कैसे आ सकता है। "5 विकास और पर्यावरण संरक्षण की बहस में हम देखते हैं कि एक ओर यात्रा-साहित्यकारों में उसका संरक्षण वाला पक्ष प्रस्तुत किया है वहीं दूसरी ओर विकास का पक्ष भी प्रस्तुत किया है। पहाड़ी क्षेत्रों पर केन्द्रित हिंदी यात्रा-साहित्य बताता है कि जो सुविधाएँ समतल क्षेत्रों में होती हैं। उनको पहाड़ों में समृद्ध रूप में स्थापित करने के लिए वहाँ के पर्यावरण से छेड़-छाड़ करनी पड़ती है। पहाड़ों को काटना पड़ता है, पेड़ों को काटना पड़ता है। नदियों को रोक वहाँ बाँध बनाने पड़ते हैं ऐसे में यह विचार कि ऐसे न किया जाए उस क्षेत्र के विकास और वहाँ के जनमानस की जीवन को समृद्ध करने के बदले होगा। "जैसे काम पाने की संभावनाएँ तथा शिक्षा प्राप्त करने का अवसर। यह सब मुहैया करवाने के लिए प्रकृति से छेड़-छाड़ तो करनी ही पड़ेगी। सिर्फ यह कह देने भर से कि पेड़ मत काटो या बाँध न बनाओ, समस्या का हल नहीं हो सकता।"6 ऐसी स्थिति में सतत विकास की आवश्यकता और अधिक अनुभव होती है। आज पर्यटन स्थलों पर लोग घूमने-फिरने और आनंद मानने का कार्य करने के साथ वहाँ के पर्यावरण के प्रति असंवेदनशील होते हैं। कहीं भी कूड़ा डाल देना एक आम बात है। ऐसे में इन स्थानों पर सुरक्षा राशि लेनी पड़ती है जो इन स्थानों को कूड़ेदान होने से बचाती है। यानि एक आर्थिक नुकसान का दबाव बनाकर उस स्थान को साफ़ रखने का प्रयास करना पड़ता है। यह कार्य लोगों की स्वेच्छा से होना चाहिए। उसके लिए ऐसे दंड का प्रयोग करना बताता है कि लोग इस विषय में कितने उदासीन हैं। नीरज मुसाफ़िर अपने उत्तराखंड आधारित यात्रा-वृत्तांत 'अनदेखे पहाड़' में ऐसे ही एक क्षेत्र का वर्णन करते हैं। "500 रूपये कूड़ा न फैलाने की सुरक्षा राशि ली। बैग में प्लास्टिक का कितना सामान है, उनकी गिनती की और जाने दिया। "7

इस प्रकार हिंदी यात्रा-साहित्य में पर्यावरण विमर्श के कई पहलू मिलते हैं। जहाँ यात्रा-साहित्यकार ने अपने देखे समझे हुए को अपने वृतांत में व्यक्त किया है। आधुनिक दौर में विकास के नाम जिस प्रकार प्रकृति का अंधाधुंध दोहन हो रहा है, आवश्यकता के स्थान पर लालच की दृष्टि से प्रकृति का उपभोग किया जा रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि पर्यावरण के महत्त्व को जनसामान्य तक पहुँचाया जाए। प्रकृति के साथ मानव का सामंजस्य बैठाना एक आवश्यक कार्य है। सम्पूर्ण धरती पर पर्यावरण को किसी से हानि है तो वह निश्चित रूप से मनुष्य ही है, इसके अतिरिक्त सभी जीव-जंतु प्रकृति के साथ ताल-मेल बिठा कर चलते हैं। मनुष्य की इस प्रवृत्ति के कारण ही आज धरती से कई जीव सदैव के लिए लुप्त हो गये हैं तो कुछ संकटग्रस्त श्रेणी में हैं। सभी जीव-जंतुओं और प्रकृति से समन्वय स्थापित करके ही मनुष्य अपना विकास करे यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए आवश्यक है। भौतिकवाद को कम करते हुए मानव को सतत विकास को अपनाना चाहिए। "अद्भुत! जो प्रकृति से प्रेम करेगा उसका खुश रहना तो स्वाभाविक है। और यही इनकी संतुष्टि की निर्भरता पैसे और भौतिक संसाधनों पर कम कर देता है।"[8] इसके साथ ही पर्यावरण संरक्षण के लिए किए गये अभियानों एवं प्रयासों को धरातल पर उतारने की आवश्यकता है।

****

सन्दर्भ-ग्रंथ:-

1.मुसाफ़िर, नीरज. सुनो लद्दाख: रेड्ग्रैब बुक्स,प्रथम संस्करण,2017,पृष्ठ-143
2 अज्ञेय,अरे यायावर रहेगा याद : राजकमल प्रकाशन,चौथा संस्करण, 2021,पृष्ठ-123
3 मुसाफ़िर, नीरज, अनदेखे पहाड़ : संभावना प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2019, पृष्ठ-176
4 सोडानी, अजय, दर्रा-दर्रा हिमालय : सार्थक प्रकाशन, तीसरा संस्करण, 2019,पृष्ठ-112-113
5 वही, पृष्ठ-105
6.वही, पृष्ठ-104-105
7.मुसाफ़िर, नीरज, अनदेखे पहाड़ : संभावना प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2019,पृष्ठ-176
8.त्रिवेदी,पल्लवी, खुश्देश का सफर : सार्थक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2022, पृष्ठ-165

वैश्वीकरण के दौर में हिंदी

डॉ. मकसूद खान
पल्लू, हनुमानगढ़ (राज.)

वैश्वीकरण एक अर्थ में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण हैI वर्तमान समय में विश्व के विभिन्न देशों के मध्य आया खुलापन, जुड़ाव तथा परस्पर निर्भरता को वैश्वीकरण की संज्ञा दी जाती है I इसके अंतर्गत विभिन्न देशों के मध्य पूंजी श्रम तकनीकी तथा सेवा का आदान प्रदान किया जाता है एवं व्यापार पर प्रतिबंधों को कम करने का प्रयास किया जाता है I वैश्वीकरण का उदय शीत युद्ध के अंत के पश्चात संचार क्रांति के परिणाम स्वरुप हुआ तथा इससे विश्व के विभिन्न देशों के मध्य सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों का विस्तार हुआ I समाजशास्त्री रोबर्ट्सन को 'वैश्वीकरण का जनक' माना जाता है I मैक्लुहान के अनुसार वैश्वीकरण के कारण पूरी दुनिया बेसिक गांव के रूप में परिवर्तित हो गई है, जबकि एंथोनी गिडेंस के अनुसार विभिन्न लोगों और दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के बीच में बढ़ती हुई पारस्परिकता ही वैश्वीकरण है I यह पारस्परिकता सामाजिक और आर्थिक संबंधों में होती है इसमें समय और स्थान सिमट जाते हैं I वैश्वीकरण इसलिए समय और स्थान की गति और गहनता से जुड़ा हुआ है I कुछ विचार एक ओर वैश्वीकरण को आर्थिक अवधारणा मात्र समझते हैं I उनके लिए यह उदारीकरण निजीकरण और निवेश हैं कुछ विचारक I इसे सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अर्थ में लेते हैं I

गिल्थिंग के शब्दों में वैश्वीकरण राजनीतिक कारणों की उपज है I बाज़ार ब्याज दर भौगोलिक गतिशीलता आदि समय और स्थान उतार-चढ़ाव के साथ जुड़े हुए हैं I यह जुड़ाव सहज नहीं है I आज का अंतरराष्ट्रीय माहौल कुछ ऐसा है जिसने राष्ट्र-राज्य अपने स्थायित्व और सुरक्षा के लिए किसी अंतरराष्ट्रीय मंच पर आने के लिए तैयार हैं I आज विश्व स्तर पर धारणा बनी है कि कुछ राष्ट्र-राज्य प्रभुत्वशाली कुछ सर्वोत्तम प्रभुत्वशाली यह राष्ट्र राज्य वैश्वीकरण के माध्यम से अपनी अर्थव्यवस्था और संस्कृति विकासशील राष्ट्र राज्यों पर थोपना चाहते हैं I आज वैश्वीकरण के दौर में देश के बीच की सीमा गायब हो रही है I आज समाज में होने वाली सारी गतिविधियों को वैश्वीकरण के संदर्भ में देखा जाता है तथा सतह रूप से तो वैश्वीकरण एक समान दिखता है जैसे शहरों की चमकीली सड़कें पांच सितारा होटल लेकिन उस क्षेत्र से जैसे ही दूसरे क्षेत्र में जाते हैं तो भयंकर अंतर दिखाई देता है अर्थात छोटे क्षेत्र वैश्वीकरण की दौड़ से बाहर रहते हैं I

भारत ने 1991 से वैश्वीकरण की नीति को अपनाना प्रारंभ किया I वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण ने स्थानीय धंधों को व स्वदेशी उत्पादन का बड़ा नुकसान किया क्योंकि हमारे यहां सूचना समाज अभी ठीक ढंग से विकसित नहीं हुआ I हम तकनीकी क्षेत्र में भी पिछड़े हुए हैं जिससे दुनिया के विकसित देशो के बाजार में हमारा उत्पादन इस बाजार में टक्कर नहीं ले सकता है I परिणामस्वरुप हमारे ही स्थानीय बाजार में हम अपना उत्पादन नहीं बेच पाते हैं I स्थानीय कारखाने एक-एक करके बंद होने लगे तथा बेरोजगारी आसमान को छूने लगी भारत के संदर्भ में आर्थिक वैश्वीकरण का अर्थ उदारीकरण निजीकरण व्यापार आयात निर्यात से लिया जाता है I यह निश्चित है कि भारत में आर्थिक उदारीकरण में नर्क के दरवाजे खोले हैं I वैश्वीकरण का सीधा संबंध बाजार से जुड़ता है और बाजार का संबंध भाषा से जुड़ता है I इस प्रकार वैश्वीकरण के दौर में भाषा की स्थिति को समझने की जरूरत है Iभारत के स्वतंत्रता आंदोलन में हिंदी सहित सभी भारतीय

भाषाओं ने आंदोलन एक मजबूत व धारदार हथियार की तरह काम किया I स्वतंत्रता से पहले हिंदी भारत की सामान्य संपर्क भाषा थी I देश के आजाद होने के बाद राजभाषा की आवश्यकता पड़ने पर हिंदी को 14 सितंबर 1949 को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई I 1955 में राष्ट्रपति द्वारा कहा गया कि जनता के साथ पत्र व्यवहार व अंतरराष्ट्रीय व्यवहारों में अंग्रेजी के साथ हिंदी को बढ़ाया जाए I 1955 में ही राष्ट्रपति ने राजभाषा आयोग बनाया जिसने सुझाव दिए गए कि अंग्रेजी का ज्ञान होते हुए भी सार्वजनिक क्षेत्र में विदेशी भाषा का व्यवहार उचित नहीं है I 14 वर्ष की उम्र तक भारत के प्रत्येक विद्यार्थी को हिंदी का ज्ञान करा देना चाहिए I भारत सरकार के प्रकाशन हिंदी में हो व प्रतियोगिता परीक्षा में हिंदी का अनिवार्य प्रश्न पत्र लिखा जाए I यह सभी आयोग के सुझाव थे लेकिन सरकार ने स्पष्ट व ठोस इच्छाशक्ति के अभाव में कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया I राजभाषा 1963 के अधिनियम में संविधान में आश्वासन दिया कि 1965 से सारा कामकाज हिंदी में होगा राजनीतिक कारणों से ऐसा नहीं हुआ और तमिलनाडु व बंगाल ने हिंदी का घोर विरोध किया इसके बावजूद भी बहुत सारे अधिनियम बनते रहे और हिंदी के विकास की बातें दोहराई गई I आगे चल कर हिंदी उस रूप में सम्मानित नहीं हो पाई जितनी अपेक्षा थी जिसके पीछे एक कारण अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं के विकास के पक्षकारों का दबाव था I

आज वैश्वीकरण के दौर में हिंदी की चुनौतियां विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ रही हैं I जिसमें बाजार शिक्षा पत्रकारिता सोशल मीडिया इत्यादि है जिसमें हर क्षेत्र में हिंदी भाषा के स्वरूप को बिगाड़ा है I वैश्वीकरण के दौर में शिक्षा व शिक्षण संस्थान हमारे देश में आज हिंदी पढ़ने वालों की संख्या अंग्रेजी पढ़ने वालों से ज्यादा है लेकिन व्यावहारिक स्तर पर हम जानते हैं कि किस प्रकार आज भारत के लोग कर्ज लेकर भी अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम में पढ़ा रहे हैं जिससे अंग्रेजी माध्यम की स्कूलें में हर गली चौराहे पर हो रही है I वह इन स्कूलों का व्या वसायीकरण करके मोटी रकम कमा रहे हैं I बड़े बड़े पूंजीपति इस धंधे में उतर रहे हैं वही हिंदी माध्यम के विद्यार्थी कम होते जा रहे हैं I जहां विश्वविद्यालयों में अनिवार्य हिंदी का पूरा प्रश्न पत्र होता था उसमें आधा भाग अंग्रेजी का कर दिया गया जाता है I आर्थिक उदारवाद में जहां शिक्षा की जगह जगह दुकानें खुल गई हैं वही सरकार भी निजी स्कूलों को बढ़ावा दे रही है जो सरकारी संस्थान हैं I उन्हें भी निजी करण करने की कोशिशें से चल रही हैं साथ ही शिक्षा का स्वरूप कैसा हो, बच्चों को क्या पढ़ाना चाहिए - यह सब शिक्षक की जगह पूंजीपति वर्ग पर करते हैं I सरकार इन्हीं के इशारे पर शिक्षा में बाजारीकरण को बढ़ावा दे रही है I यह व्यावसायिकता शिक्षण संस्थानों पर इस कदर हावी है कि उन्हें बच्चों की शिक्षा से ज्यादा अपने व्यवसाय की चिंता है जिससे बच्चे शिक्षा में पिछड़ती जा रहे हैं और आए दिन आत्महत्या कर रहे हैं Iएक स्थिति यह भी है कि हिंदी के शोधार्थियों को हिंदी पुस्तकालय में हिंदी पत्रिकाऐं नहीं मिल रही हैं I आज हिंदी में शोध पत्रिकाएं न के बराबर और गंभीर लेखों के प्रकाशन का ना होना व्यवसायिकता की देन है I बहुत सारे अंग्रेजी माध्यम के ऐसे स्कूल होते हैं जहां हिंदी बोलने पर दंड दिया जाता है Iऐसी स्थिति में लोग मजबूरन हिंदी और उसके प्रयोग से कटते जा रहे हैं I [2]वैश्वीकरण का मीडिया हिंदी में भाषाई प्रामाणिकता को लेकर कुछ ऐसा नहीं कर रही जैसी प्रतिष्ठा सरस्वती से लेकर आगे के संपादन में दिनमान साप्ताहिक ने की थी I वैश्वीकरण के दौर में ऐसी प्रतिष्ठा बनती किसी की नहीं दिखाई दे रही I यह एक दुखद सच्चाई है I साक्षर जगत में हिंदी को फैलाने का श्रेय मीडिया को कुछ दिया जाना चाहिए लेकिन यह बात भी समझनी होगी कि प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने लगातार बदलाव के नाम पर हिंदी को दूषित किया है Iहिंदी दूसरी भाषाओं के प्रति हमेशा उदार रही है I अनेक साहित्यकारों ने विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया लेकिन उससे हमारी हिंदी समृद्ध ही हुई (तुलसीदास ने रामचरितमानस में अरबी व फारसी शब्दों का इस्तेमाल किया) I लेकिन इस दौर में जो हो रहा है वह हिंदी को कमतर सिद्ध करने के लिए किया जा रहा है I

घालमेल का पहला पूर्वाग्रह यह है कि अंग्रेजी विश्व भाषा है I इसलिए इनके शब्दों को हिंदी में ठूंस कर संप्रेषणीय बनाया जा सकता है I मुख्यमंत्री, गृह मंत्री, उच्चतम न्यायालय हिंदी में काफी समय से आते रहे हैं I लेकिन इन्हें अंग्रेजी में बदलकर हिंदी के शब्दों को हाशिए पर धकेला जा रहा है I दूसरा पूर्वाग्रह हिंदी में भाषा परिवर्तन मीडिया कर रहा है I जबकि सच्चाई यह है कि हिंदी अपनी शर्तों पर बदल रही है I जैसे दलित विमर्श स्त्री विमर्श जो पहले नहीं थे I आज अखबार तेजी से पाठकों के लिए नहीं उपभोक्ताओं के लिए निकाले जा रहे हैं I अधिकतर मालिकों में मीडिया मिशन नहीं व्यापार हो गया है I साहित्य में जहां शब्द संसार बढ़ रहा है, मीडिया में सिकुड़ रहा है I आज मीडिया हिंदी में अपना काम करने को मजबूर है जिसका कारण व्यवसाय है I साहित्य की भाषा में क्या हो रहा है, क्या नहीं उससे कोई लेना देना नहीं है I मीडिया सफल होने के चक्कर में अपनी सार्थकता से हट रहा है I आज पत्रकारिता का एकमात्र लक्ष्य विज्ञापन के द्वारा मोटी रकम कमाना है I विज्ञापन पूंजीवाद का सबसे बड़ा साधन हो गया है I विज्ञापन के द्वारा हमारी संस्कृति विलुप्त हो रही है विज्ञापन का मूलमंत्र यह है कि किसी भी वस्तु की मांग तभी बढ़ती है जब उसे बार-बार नजर के सामने लाया जाए I

विज्ञापन द्वारा नारी की स्वतंत्रता की बात जोड़ कर उन्हें विज्ञापन में उत्तेजक मुद्राओं में दिखाया जाता है I हरिशंकर परसाई ने ' विज्ञापन में नारी रचना ' में व्यंग्य किया है I इस देश की सारी सुंदर स्त्रियां कंपनी की नौकरानियां हैं जिनका काम ग्राहकों को आकर्षित करना है I सुंदर स्त्री के जीवन का महान उद्देश्य है किसी कारखाने के माल को दिखाना और सबसे बड़ी बात प्रेम व सौंदर्य का सारा स्टॉक कंपनियों ने खरीद लिया है I नारी को विज्ञापन द्वारा बाजार की वस्तु बनाया जा रहा है I लेकिन नारी चिंतक इस बात का विरोध नहीं कर रहे हैं I परसाई जी अपनी रचना विज्ञापन संस्कृति में प्रतिष्ठित व्यक्तियों के विज्ञापन में उतरने पर सवाल उठाते हैं I आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं - विज्ञापन समझ को ढकना चाहता है I कुछ समय पहले पत्रकार गौरी लंकेश की हत्या कर दी गई लेकिन समाचार पत्रों में यह खबर बहुत छोटी दिखाई गई I3 वैश्वीकरण व स्थानीय संस्कृति का संपर्क मीडिया व बाजार से होता है I कुछ आलोचकों का कहना है कि विदेशी संस्कृति और बाजार इतने प्रभुत्वशाली होते हैं कि वह स्थानीयता को समाप्त कर देते हैं I धीरे-धीरे शास्त्रीय संगीत व लोक नृत्य की जगह पॉप संगीत व वेस्टर्न डांस ले रहे हैं I इस संस्कृति ने पहनावे पर भी प्रभाव जमाया है I आधुनिक महिला नाइट क्लब, धूम्रपान, मिनी स्कर्ट, जींस को अपनी पहचान मानती है I यह सब ठीक है लेकिन जब हमारी संस्कृति को हम दरकिनार करते रहेंगे तो विश्व समुदाय में अपनी अलग पहचान कैसे बनाएंगे I वैवाहिक जैसे कार्यक्रम का स्थान मैरिज ब्यूरो ने ले लिया है I हमारी स्थानीय संस्कृति पर पश्चिमी संस्कृति हावी होती जा रही है I आज हम पिज्जा बर्गर व कोका कोला के फेर में छाछ व लस्सी को भूल रहे हैं I वैश्वीकरण का प्रभाव घर की भाषा पर भी देखने में आता है I घर में भी हम रिश्ते में पापा-मम्मी बुआ फूफा नाना नानी दादा दादी कहना भूल रहे हैं I हाल यह है कि मंडे को तो जानते हैं पर सोमवार नहीं जानते I विंटर का पता है लेकिन बसंत व हेमंत का नहीं पता I किचन समझते हैं रसोईघर नहीं Iयह सब न जानकर इस शिक्षा व्यवस्था में अपनी मातृभाषा से कट रहे हैं

साथ ही फादर्स डे मदर्स डे वेलेंटाइन डे आदि को मनाते हैं पर नाग पंचमी वसंत पंचमी मकर सक्रांति क्या होते हैं नहीं जानते हम अमलतास व कचनार के फूल का रंग नहीं जानते I आज हमें पिज्जा बर्गर का स्वाद खूब पता है परदेसी पकवानों को देखकर उनकी पहचान पहुंचते हैं I आज किसी भी अवसर पर ग्रीटिंग कार्ड के कागज दिए जाते हैं लेकिन तीज त्यौहार पर क्या पकवान बनते हैं – यह धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं Iआज हम घर में बाजार द्वारा परोसी गई खिचड़ी भाषा का प्रयोग करके अपनी संस्कृति से कट रहे हैं Iवही हालात महानगरों में हिंदी दिवस को हिंदी डे बना देते हैं I हमारे यहां विदेशी संस्कृति फैलाने का कार्य मीडिया ने ही किया है और इसी कारण हमारी संस्कृति हमारे हाथों में साबुन की तरह फिसलती जा रही है I[4]

वैश्वीकरण व बाजार की भाषा-, वैश्वीकरण का सीधा संबंध बाजार से होता है और बाजार का संबंध भाषा से होता है I आज लेखक से ज्यादा बाजार तय करने लगा है कि आपको यह लिखना है यह लिखोगे तो ज्यादा बिकेगा I बाजार का यह रवैया भाषा के मौलिक स्वरूप को बिगाड़ रहा है I जिन लेखकों के विचारों में गहराई है मौलिकता है उसको बाजार नकार दे रहा है और कुछ लेखक जिनका लेखन प्रभावशाली ना होते हुए भी बाजार के जरिए खूब बिक रहा है तब समझ आता है कि बाजार पाठक व लेखक के बीच कैसी दूरी पैदा करते हैं और मौलिक साहित्य का अभाव होता जा रहा है I जब पाठक किसी साहित्य को नकारता है तो बाजार विज्ञापन के जरिए हिंदी साहित्य जगत पर जनता की पसंद को प्रचारित करता है I ऐसे साहित्य में किसानों की आत्महत्या, बेरोजगारी का दंश झेलते युवा, हाशिए के लोग का सुख-दुख गांव में नगर व जीवन-बोध की चर्चाएं न के बराबर रहती हैं I इसलिए हमें समझना चाहिए कि हिंदी के प्रकाशक शुद्ध व्यवसायी हो गए वह वही किताबें छापते हैं जिनकी बाजार में मांग है I[5]

सोशल मीडिया व टी.वी की भाषा मीडिया व टीवी चैनलों के माध्यम से जो कुछ दिखाया जा रहा है उससे हमारा समाज दिशाहीन होता जा रहा है तथा संस्कृति को प्रदूषित किया जा रहा है I मास मीडिया ने हिंदी को बाजारु भाषा में बदल दिया है I जैसे हिंदी फिल्मकार हिंदी में फिल्म इसलिए बनाते हैं क्योंकि यह ज्यादा लोगों द्वारा बोली व समझी जाती हैं जिससे वह अपना अच्छा व्यवसाय कर सके लेकिन प्रमोशन के समय अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करते हैं I वर्तमान दौर में फिल्मों के नाम व उन में प्रयुक्त गानों में अंग्रेजी का धड़ल्ले से प्रयोग हो रहा है तथा भाषा का स्वरूप बिगड़ रहा है I इसका कारण महानगरों में आम बोल चाल की भाषा में अंग्रेजी के शब्द आ रहे हैं वही शब्द अब टीवी पर आने लगी आज व्हाटसप व फेसबुक की भाषा में अंग्रेजी का प्रयोग हो रहा है I

इस प्रकार आज के दौर में हिंदी के सामने कई प्रकार की चुनौतियां बड़ी हैं I इन सब के बावजूद हिंदी का वजूद कायम है I आज खतरा इस बात का नहीं है कि दूसरी भाषा के शब्द हिंदी में आ रहे हैं I बल्कि यह देखना है कि इनसे हिंदी का मूल स्वरुप क्षतिग्रस्त न हो जाये I हिंदी की व्यापकता और गहराई समय के साथ बढ़ानी है Iसभी को सतर्क रहना होगा कि हम सभी हिंदी के मूल स्वाभाव (स्वतंत्रता, स्वाभिमान, सामाजिकता, सर्वग्राह्यता) को बनाये रखें I

****

सन्दर्भ –

1.सुशील देसाई : उत्तर आधुनिकता, रावत प्रकाशन, जयपुर, 2015, पृष्ठ -321
2.विश्वनाथ त्रिपाठी : देश के इस दौर में
3.हरिशंकर परसाई : विज्ञापन में नारी
4.जनसत्ता (दिल्ली) 2012
5.दैनिक भास्कर (जयपुर) 2010

संजीव की कहानियों में व्यक्त मानवीय संवेदना का विश्लेषण

डॉ. पी.एम.आर. जयन्ती
प्राध्यापक, हिंदी विभाग
एस.के.आर. एवं एस.के.आर. राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय (स्वायत्त) कडप्पा (आंध्र प्रदेश)

समकालीन कथाकारों में संजीव का नाम उनकी श्रेष्ट कहानियों के लिए प्रसिद्ध है। वे समकालीन जीवन की विडंबनाओं को एक चुनौती के रूप में स्वीकार करते हैं। इनकी रचनाएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समाविष्ट संघर्ष स्थितियों को गहराई से चित्रित करती हैं और मानवीय संवेदना को उभारती हैं। वे समाज के विभिन्न पहलुओं, विशेषकर हाशिए पर खड़े लोगों के जीवन, संघर्षों और मानवीय संवेदनाओं को उजागर करती हैं। इस संदर्भ में डॉ. गजानन किशनराव पोलेनवार का कथन समीचीन है "संजीव ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हाशिए पर जीवन जीनेवाले उपेक्षित एवं शोषित आदिवासी जनजातियों की संघर्ष गाथा को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करते हुए आदिवासी जीवन के विविध संदर्भों का अध्ययन-अन्वेषण कर उन्हें रचनात्मक रूप प्रदान किया है। संजीव की दृष्टि व्यापक संदर्भों से जुड़ी हुई है, जिसमें उनकी रचनात्मकता के विविध आयाम दिखाई देते हैं। उन्होंने समाज के शोषित, दलित और उपेक्षित वर्ग को अपने लेखन का विषय बनाया है। उनके उपन्यासों में ग्रामीण, आंचलिक, मेहनतवश तथा शोषित वर्ग का चित्रण है। सामाजिक वर्ग-भेद के परिप्रेक्ष्य में संजीव का कथा साहित्य महत्वपूर्ण है। शोध और श्रम के आधार पर उनका लेखन हिन्दी में अपनी अलग पहचान बनाता है।

संजीव की कहानियों में मानवीय संवेदना का विश्लेषण करते हुए हमें यह अनुभव होता है कि इनकी कहानियाँ व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के विशिष्ट पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करती हैं, जहाँ मानवीय मूल्यों का प्रामाणिक विश्लेषण प्राप्त होता है। इसके अलावा संजीव की कहानियाँ जीवन की उलझनों को गाँव से लेकर नगर, गरीबी से लेकर अमीरी, दलितों से लेकर जमींदारों व सामंतों और आदिवासी जीवन तक व्यापक रूप सेचित्रत करती हैं, जैसे राहुल सिंह ने व्यक्त किया है "उनक कथा संसार पात्रों और अनुभवों के धरातल पर इतना वैविध्यमूलक है कि कई बार भ्रम होता है कि क्या यह एक ही व्यक्ति के द्वारा रची गई कहानियाँ है।

संजीव की कहानियों में मार्क्सवादी चिंतन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वे समाज में व्याप्त आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को गहराई से चित्रित करत हैं। उनकी कहानियाँ वर्ग संघर्ष, शोषण और उत्पीड़न क मुद्दों को उभारती हैं, जो समाज के वंचित और शोषित वर्गों के संघर्ष

को उजागर करती हैं। संजीव ने 'तीस साल का सफर नामा' कहानी में पूँजीवादी सभ्यता द्वारा गरीबों का शोषण आजादी के तीस साल बाद भी किए जाने का यथार्थ चित्रण किया है "चंद सालों पहले कानूनगो साहब का इनका जब इस जगह आकर रूका था तो ऐसी ही लार बह चली थी लेकिन नंबरदार ने ए.सी.ओ. को अछैबर सिंह के यहाँ, कानूनगो को रामखेलाबन यादव के यहाँ और दतर सरयू पांडे के यहाँ लगावा दिया तो बाकी लोग म्यूजिकल चेयर से पराजित खिलाडियों की तरह उदास हो गए। यहीं से शुरु होती है भूमि सुधार, यानि चकबदी की कहानी।

' टीस' कहानी में पूँजीवादी सभ्यता का पर्दाफाश किया गया है, जो समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को उजागर करती है। "अच्छा तो देखिए, रोड़ पर जा रहा है एक नंबर का अजगर मुखिया पिनाकी महतो । जितना सरकारी पैसा और सामान गाँव के लिए मिलता है, सब साला के पेट में जाता है। पीछे पीछे जा रहा है उसका लड़की पत्तो। ढेमना (धामिन) है ढेमना। बड़ा बड़ा बी.डी.ओ., एस.डी.ओ., कोलरी मैनेजर, ठीकेदार का पा (पैर) बाँध के दूध पी जाता। कपड़ा और मुदीखाना का दुकानवाला सेठ लोग राजस्थान का पीवण नाग हैं। सुबेदार रामबली राय गंगा के किनारे का चित्ती (करैत) है तो मनुमी जमेशर सिन्हा बोड़ा साँप है।" स्पष्ट है कि पूँजीवादी सभ्यता के शोषणकारी और संवेदनहीन स्वरूप के प्रभाव से वंचित गरीब समाज संघर्ष के कगार पर खड़ा हुआ है।

धनुष टंकार' कहानी में पूँजीवादी व्यवस्था की कठोर सच्चाइयों और उससे व्याप्त अन्याय को बेनकाब किया गया है, कहानी का निर्मल बाबू एक निस्वार्थ और समर्पित नेता है। जो मजदूरों के हक और न्याय के लिए संघर्ष करते हैं तो उनका काम से निष्कासन किया जाता है।

'भूखे रीछ' कहानी में भी मजदूरों के प्रतिरोध, संघर्ष और कारखाना मालिक के शोषण को गहेराई से उजागर किया गया है "इधर हम साले इस्ट्राइक करते हैं, धरना देते हैं, कुत्तों की तरह छीना झपटी करते हैं, ऊपरटैम, परमोसन, क्वार्टर के टुकडों पर दुम हिलाते हुए साहबों के पीछे पीछे चलते हैं फिर भी पेट नहीं भरता!" मालिक मजदूरों को कम वेतन देकर और उनके काम के समय को बढ़कर उनका शोषण करते हैं। 'नेता' कहानी में समाज के वंचित और शोषित वर्गों का सजीव चित्रण किया गया है। यह शोषण आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी स्तरों पर होता है। उच्च वर्ग के लोग अपने फायदे के लिए इन वर्गों का शोषण करते हैं और उन्हें अपने अधिकारों से वंचित रखते हैं। 'राख' कहानी में समाज के जमींदारी व्यवस्था का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। वे गरीब किसानों और मजदरों को अपने अधीन रखने के लिए निर्दयता एवं अन्यायपूर्ण व्यवहार करने के लिए तैनात रहते हैं। उनकी स्वार्थ प्रवृत्ति के कारण समाज में असमानता और अन्याय बढ़ता है। "कायदे से तो महतो को उस फूटी आँख का भी हरजाना देना चाहिए।

संजीव ने अपने कथासाहित्य में किसान जीवन की वास्तविकताओं व जटिलताओं को गहरी संवेदना के साथ रेखांकित किया है। किसान जीवन से जुड़े उनके कथासाहित्य में गहन चिंतन, अध्ययन, मनन और अनुभव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। संजीव का बचपन ग्रामीण किसान की दयनीय एवं तंगहाली में बीता। अतएव उनके कटु जीवनानुभवों का पर्याय ही उनकी कहानियाँ हैं। हम संजीव की इन कहानियों में चित्रित ग्रामीण किसान जीवन के संघर्ष और मूल्य संवेदना विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे, ताकि उनकी कहानियों के माध्यम से ग्रामीण किसान और उनकी संघर्ष चेतना को बोधगम्य बनाया जा सके।

संजीव की कहानी "तीस साल का सफर नामा" में आजादी के बाद के गाँवों का सजीव चित्रण देखने को मिलता है। कहानी का केंद्रबिंदु कुसुमपुर गाँव है। कुसुमपुर की नियति पूरे देश की नियति है "और जनाब कुसुमपुर की नियति को फुला दीजिए तो यह पूरे देश की नियति हो जायेगी"

संजीव की 'पिशाच' कहानी में गाँव के पुराने सामंत और नए सामंत वर्ग का यथार्थ चित्रण किया गया है। आजादी के पूर्व पुराने सामंत गाँव के, गरीबों, किसानों, मजदरों और नारियों का शोषण करते थे। तो आजादी के बाद गाँव के प्रधान, सरपंच, ग्रामपंचों और जमींदारों के रूप में नए सामंत उभर कर आए हैं। कहानी का मुख्य पात्र महात्म बाबा गाँव क पुराने सामंत है। सारा गाँव उनकी पुरानी रयत था। समय बदलता है और रमेशर गाँव का प्रधान बन जाता है। अब रमेशर गाँव की जमीन हड़पने लगता है। यहाँ तक कि महातम बाब की ज़मीन भी हड़प लेता है। बाबा पुराने सामंत है और रमेशर नया सामंत है। "बाबा में एक कटिन पुरोहित और मगरूर सामंत भर था, जबकि रमेशर में उस पुरोहित और सामंत के अलावा एक काइयाँ मुनीम और मक्कार बनिया भी है। तुम बच्चे से जवान, जवान से बूढ़े होकर मर जा ओगे, लेकिन यह पिशाच यूँ नहीं मरनेवाला।" भारत की स्वतंत्रता के पचास साल बाद यहाँ गाँवों में भूमि संबंधी समस्या का हल नहीं हुआ है। सामंती व्यवस्था और पूँजी व्यवस्था नये रूप में अपना वर्चस्व दिखाती जा रही है, जिससे गरीब किसानों व मजदरों की दशा और बदतर होती जा रही है। "पूत पूत ! पूत पूत!" कहानी में इसी समस्या को रेखांकित किया गया है। "आजीद के बाद भी देश के हजारों लाखों गाँवों की तरह ही मेरे गाँव की ज्यादातर ज़मीन भी अभयानंद शर्मा, शिवशंकर सिंह, अखोरी साह और राजा के मुनीम जमनलालजी के परिवारों के पास ही रही।" गरीबों व मजूरों के पास ज़मीन न रहने के कारण उन्हें मजबूरन इन जमींनदारों के यहाँ खेती या मजूरी करनी पड़ती है।'मरजाद' कहानी ग्रामीण राजनीति में आरक्षण व्यवस्था की पोल खोलती है। मिसिर जी प्रधान के पद पर अपने नौकर धनपत को खड़ा करते हैं क्योंकि "गाँव ओ.बी.सी. के कोटे में आ

गया है, खुद तो खड़ा नहीं हो सकता था सो धनपतिया को खडा कर दिया ताकि परधानी को डोर अब भी उसी के हाथ में रहे और वो चुड़ैल शांता दौड़ दौड़कर उसके सारे काम करती रहे।" मिसिर जी की इच्छा से धनपत करीमपुर गाँव के नए प्रधाव बन गए। किंतु इससे उसके सामाजिक और आर्थिक स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया। गाँव के परधान के पद पर चुने के बावजूद वह मिसिर जी के सामने ऊपर नहीं बैठ सकता। धनपत अपनी इस हालत के बारे स्वयं कहता है "हम तो भरत हैं, राम जी जब तक गद्दी पर नहीं विराजते, उनके खडाऊँ...' यानी मंसा मिसिर की, परधानी धनपत की, काम शांता देवी का इस तरह चल रहा था करीमपुर का।" इस प्रकार इस कहानी में किसान वर्ग में एकता के अभाव की ओर इशारा किया गया है।

भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था का अस्तित्व प्राचीन काल से देखा जाता है। किंतु जाति या वर्ण-व्यवस्था मानव जीवन को व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से बनायी गयी है। ताकि लोग आपस में मिलजुलकर रहते हुए अपने अपने व्यवसाय में लगे रहे। समय के साथ - साथ वर्ण-व्यवस्था का यह रूप बदलता गया। मानव मिलजुलकर रहने की अपेक्षा जाति या वर्ण के नाम पर बिछुडता गया। परिणामतः लोग में ऊँच-नीच की भावना पनपने लगी। जाति और वर्ण के संदर्भ में दलित जीवन की समस्याएँ आमतौर पर देखी जाती हैं। जाति के नाम पर मनुष्य अपने को प्रतिष्ठित करने केलिए गरीब लोगों के साथ दुर्व्यवहार करता है। संजीव ने अपनी कहानियों में दलित जीवन की विभिन्न समस्याओं, यातनाओं एवं शोषण को बडी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है, संजीव की अनेक कहानियों में दलित जीवन की त्रासदी, अन्याय, शोषण आदि का यथार्थ चित्रण विभिन्न रूपों में परिलक्षित होता है।

"जब नशा फटता है" कहानी में संजीव ने उपेक्षित दलित जीवन का चित्रण संवेदना के स्तर पर प्रस्तुत किया है। कहानी में मेहतर (भंगी) जातियों के लोग सदियों से मैला ढोने का काम करते हैं। आज भी दलित लोग शौचालय, सेप्टिक टैंक, झाड़ू पोछा आदि साफ करने के कामो में ही वे लोग लगे रहते हैं। कोई सवर्ण इन कामों को नहीं करते। यह एक नियति - सी बन गयी है कि दलित ही ये काम करते हैं। कहानी का जावीर चाचा अपनी बद हालत को इन्स्पेक्टर के सामने बताते हैं "कैसे बताएँ, साहेब? ये-ई समझ लो, हम लोग चार-चार बोतल दारु चढ़ा के सेप्टिक टैंक में घुसते न वैसे ई आपका जात धरम, भगवान भी नशा है - एतना-एतना नशा नय पिलाओ तो हम आप लोग का नरक कैसे साफ करें?... कभी कभी जब बीच में ही नशा फटता है तो मत पूछो कि कैसा लगता है। सबकुछ बदबू देने लगता है एतना बदबू कि दिमाग का नस तडक जाए?" इसप्रकार अनिच्छा से ही उन लोगों को यह काम करना पड़ता है। हमारी सामाजिक व्यवस्था ऐसी है कि जिस समाज से ये लोग आते हैं उनको कोई उच्च काम नहीं दिया जाता। मजबूरन इनको यह काम करना पड़ता है। इसी कहानी का रामकुमार कहता है कि जातिपात तो भगवान वे बनाई नहीं तो हमें ऐसा काम करने केलिए मजबूर क्यों किया जा रहा है। आदिवासी समाज में साक्षरता का दर बहुत कम है। आजादी के 75 साल बाद भी आदिवास समाज में शिक्षा की समस्या बनी हुई है। सरकार द्वारा शिक्षा का व्यापक प्रचार करने के बावजूद ये लोग निरक्षरता की चक्की में पिसते जा रहे हैं। यहाँ दोष दोनों का है। शिक्षा की सुविधाएँ इन लोगों तक पहुँचाने में सरकार असमर्थ हैं तो इन सुविधाओं का फायदा उठाने में ये लोग असमर्थ हैं। कारण जो भी आदिवासी समाज के सामने शिक्षा का विस्तृत रूप में प्राप्त करना एक बड़ी चुनौती है। भ्रष्ट राजनीति के कारण आदिवासी समाज केवल वोट बैंक तक सीमित रह जाता है। हमारे प्रजातंत्रिक देश में आज भी पैसों के लालच दिखाकर या गुडावर्दी के बल पर चुनाव जीते जाते हैं। रुपयों के लालच में सहीगलत का निर्णय भी हम ले नहीं पाते। इसी तथ्य को दर्शाती है 'भूमिका' जिसमें 'भ्रष्ट राजनीति का यथार्थ चित्रण किया गया है। आदिवासी बस्ती को खाली करने हेतु सेठ पैसे देकर बस्ती में आग लगावाकर उजाड़ देते हैं। फिर वही सेठ ही धर्मात्मा बनकर मुआवजा बाँटता है। यह उनकी भ्रष्ट राजनीति है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शोषित व पीड़ित आदिवासी समाज संजीव के लेखन के केंद्र में है। उनकी कहानियों में आदिवासी जीवन का यथार्थ, उनके रीति -रिवाज, शोषण, व अत्याचार के कारण तथा संघर्षमय जीवन का चित्रण संवेदना के स्तर पर किया गया है और यह बोध जगाया गया है कि आदिवासी समाज के प्रति स्वस्थ व सहज संवेदना की ओर संकेत किया है। इसी संवेदना को आधार बनाकर कई कहानियाँ लिखी गई हैं, जिनमें आदिवासी जीबन की बेचैनी को अभिव्यक्ति मिली। जीवन के पार, दुनिया की सबसे हसीन औरत, महामारी, लिटरेचर, हिमरेखा आदि कहानियों के साथ-साथ जंगल जहाँ शुरु होता है, धार, सावधान नीचे जग है, पाँव तले की धूप, फांस आदि उपन्यासों में आदिवासी समाज की तमाम समस्याओं को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है।

****

संदर्भ सूची :-

1. संजीव की कथासाहिय् मे आदिवासी लोक-संस्कृति, डॉ. गजानन किशन राव पोलेनवार.
2. संजीव की कथा यातेंराः पहला पडाव
3. संजीव की कथा यातराः दूसरा पडाव.
4. संजीव की कथा यातराः तीसरा पडाव

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में पुरुषों का सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष

सुमन बारला & डॉ. महेन्द्र कुमार वर्मा

अतिथि प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

जवाहरलाल नेहरू राजकीय महाविद्यालय

श्रीविजयपुरम, अंडमान निकोबार

मैत्रेयी पुष्पा बीसवीं सदी के अंतिम दशक में उभरकर आयी प्रसिद्ध महिला लेखिकाओं में अग्रणी मानी जाती हैं। उन्होंने आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में लोक जीवन के विविध आयामों का बखूबी चित्रण किया है। मैत्रेयी पुष्पा हिंदी साहित्य की एक प्रमुख लेखिका हैं, जिन्होंने विशेष रूप से नारी विमर्श, ग्रामीण जीवन और सामाजिक यथार्थ को अपने उपन्यासों का केंद्रीय विषय बनाया है। उनके उपन्यासों में पुरुष चरित्रों का चित्रण बहुत ही सजीव, यथार्थपरक और बहुआयामी रूप में मिलता है। वे पुरुषों के दोनों पक्षों— सकारात्मक और नकारात्मक — को बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रस्तुत करती हैं। मैत्रेयी पुष्पा का जन्म 30 नवम्बर, 1944 को उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में सिकुरा नामक गाँव में हुआ था। उनके जीवन का आरंभिक भाग बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ था। उनकी आरंभिक शिक्षा झांसी जिले के खिल्ली गाँव में हुई। उन्होंने अपनी एम.ए. (हिंदी साहित्य) की डिग्री बुंदेलखंड कॉलेज, झाँसी से प्राप्त की थी। मैत्रेयी पुष्पा जी को हिंदी कथा साहित्य में विशेष योगदान के लिए कई पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका हैI इन्हें हिंदी अकादमी द्वारा साहित्य कृति सम्मान, कहानी 'फ़ैसला' पर कथा पुरस्कार मिला, 'बेतवा बहती रही' उपन्यास पर उ.प्र. हिंदी संस्थान द्वारा प्रेमचंद सम्मान(१९९५), 'इदन्नमम' उपन्यास पर शाश्वती संस्था बंगलौर द्वारा नंजनागुडु तिरुमालंबा पुरस्कार, म.प्र. साहित्य परिषद द्वारा वीरसिंह देव सम्मान, वनमाली सम्मान 2011 इत्यादिI

पिता और पुत्र के बीच का रिश्ता सिर्फ़ पारिवारिक संबंध से कहीं ज़्यादा होता है; यह एक ऐसा महत्वपूर्ण प्रभाव होता है जो एक युवा व्यक्ति के बचपन से वयस्क होने तक के सफ़र को आकार देता है। यह रिश्ता बच्चे के भावनात्मक, सामाजिक और संज्ञानात्मक विकास को आकार देने में महत्वपूर्ण होता है। इस बंधन के ज़रिए ही बेटे विश्वास, सम्मान और मानवीय रिश्तों की बारीकियों के बारे में सीखते हैं। पिता का प्रभाव बेटे के विकास के हर पहलू को छूता है, जो उसकी बातचीत, धारणाओं और जीवन की चुनौतियों के प्रति उसके दृष्टिकोण की नींव रखता है। संक्षेप में, एक पिता की उपस्थिति और भागीदारी एक पूर्ण विकसित, आत्मविश्वासी और भावनात्मक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण तत्व हैं। किन्तु समाज के बदलते परिवेश में परिवार कि अवधारणा को ही उलट-पलट कर रख दिया हैI जहाँ बच्चे बड़े होते ही अपनी परवरिश करने वाले और सफल जीवन की नींव रखने वाले पिता को अपमानित करने से भी नहीं चूकतेI ऐसे पुत्र कुपूत की श्रेणी में आते हैं जो अपने माता-पिता का अपमान करने की अवधारणा अपने भीतर पाल बैठे होते हैंI ऐसे ही एक कुपूत जोधा का वर्णन मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में किया हैI जिसमें उपन्यास का पात्र जोधा अपने पिता मंसाराम को जानवरों की बखरी में सोने के लिए विवश कर देता हैI जिसका उल्लेख इस प्रकार है- ***"सबसे पहले उसने पिता की खटिया बैठक से उठाकर ढोरवाली बखरी में डाल दी, 'लो, अब यहाँ सोओ। गोबर–मूत में तुम्हारी दारू भरी उल्टियों से ज्यादा बदबू नहीं आती। भैसों के सामने नौटंकी करते रहना।"***[1]

ऐसा ही एक और सन्दर्भ मैत्रेयी पुष्पा ने अपने इसी उपन्यास में दिया है जिसमें उपन्यास का पात्र जोधा अपने आराम करते हुए पिता से बदसलूकी की और उनके सोने वाले बिस्तर तक खींच लिएI इतना ही नहीं उसने पिता को ज़िंदा जलाने की धमकी भी दीI जिसका वर्णन इस प्रकार है- ***"जोधा ने उनकी बगल से कंबल और चादर जबरन खींच लिए। भृकुटी तानकर बोला, 'उसी कोठे में आधा कनस्तर मिट्टी का तेल रखा है, जिसमें अम्मा जली थीं। स्नान कराकर आग लगा दूंगा। तुम्हारे मरने पर न हमें पाप लगेगा न धिक्कार मिलेगी सब शाबासी देंगे।"***[2] समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार को माना जाता हैI जिसमें माता-पिता और बच्चों का स्नेहात्मक संबंध परिलक्षित होता हैI यह स्नेह और अधिक प्रभावी हो जाता है जब बिछड़ने की स्थिति आ जाती है या फिर परिवार का कोई सदस्य अन्य सदस्यों से बिछुड़ जाता हैI तब बिछुड़े हुए सदस्य की प्रत्येक वस्तु में असीम प्रेम की झलक नजर आती हैI 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा ने उसी प्रेम को दर्शाया हैI यहाँ उपन्यास का पात्र राणा अपनी माँ से बिछड़ जाता है किन्तु माँ के द्वारा बनवाये गए कपड़े देख कर वह दःखी हो जाता है और अपनी माँ से बिछड़ने के गम में उसकी आँखें भर जाती हैंI जिसका उल्लेख इस प्रकार है-***"मैंले कपडे उतारकर जहाँ रखे थे, फिर से वहीं जा पहुँचा तो लगा बिछडने के गम में कपडे उदास पडे हैं। उठा लू? बाहों में छिपाकर कहीं दबा दूँगा। माँ की याद आयेगी तो देख लिया करुँगा। कितने चाव से बनवाकर लाई थी, मैले हो गये तो उसका क्या कसूर? राणा की आँखो मे आँसू भर आये।"***[3] विवाहोपरांत एक स्त्री के लिए सबसे बड़ा सोचनीय विषय यही रहता है कि उसके ससुराल पक्ष के सदस्यों का व्यवहार उसके प्रति कैसा होगा? अगर लड़की के सास-ससुर उसके कार्यों और व्यवहार में अपनी सहमति रखते हैं तो लड़की का जीवन सुखमय बन जाता हैI मैत्रेयी पुष्पा ने 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में अपने ससुर का सकारात्मक पक्ष यहाँ रखा है और बताया है कि किस प्रकार वह घर के कार्यों में उसका हाथ बटाते हैं और जानवरों की देख-भाल भी कर लेते हैंI वह कहती हैं कि- ***"नहीं, रात के दूसरे पहर जब सारा गाँव खा-पीकर सो गया। वह चूल्हे में कंडे सुलगा रही है। दाल, साग कब रंधेगा? बच्ची भूँखी सो गयी। बूढे सवेरे से राह देखते हुये बैठे हैं। उन्होंने गाय-बछडों के चारे-पानी का जिम्मा ले लियाँ है। रेंगती चाल से खेतों पर हो आते हैं। दोनों हाँथों में लोटा थामकर बच्ची को नहला देते हैं। अगर गठिया ने उँगलियों के टेढेपन में हाँथों की मुट्ठी न बना दी होती तो इसमें शक नही कि वे रोटी भी बना लेते।"***[4] ससुर और बहू पिता-पुत्री के ही समतुल्य देखे जाते हैं किन्तु समाज में ऐसे ससुर बमुश्किल ही मिलते हैं जो अपनी बहु को अपनी पुत्री की तरह ही सम्मान देते हों और उसकी विपरीत परिस्थिति में भी उसके साथ खड़े होंI इसी उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा ने अपने ससुर का जिक्र कुछ इस प्रकार किया है- ***"लोग, बूढे के दःख से कराहते, दादा जी देखते न थे। क्या उन्होंने यह सोंच लियाँ है कि***

ये कराहने के दिन नहीं निबाहने का समय है। बहू घर छोडकर चली गई तो? निश्चित ही खेती संग चली जाएगी , क्यों कि वह इतनी होशियार है कि दूसरा ब्याह भी नहीं करेगी। हाँ, यही सोंचा है और पति के पिता कस्तूरी के पिता हो गये।"[5] इसी उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा ने अपने ससुर की संवेदनशीलता और उनके सकारात्मक पक्ष को उजागर किया हैI वह बताती हैं कि किस प्रकार वे अपने पुत्र अर्थात् मेरे पति की नकारात्मक सोच का बहिष्कार करते हैं और समझाते हैं कि परिस्थितियों के अनुसार अपने विचारों में *परिवर्तन व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता हैI इसी उपन्यास में इस बात का जिक्र इस प्रकार से किया गया है-* ***"कोई ससुर अपनी बहू की पुकार सुन सकता है, जबकि बहू घूँघट-पर्दा में हो? बूढे अपाहिज पिता बेटे को समझा रहे थे– जमींदार से किसान की दूरियाँ बढती जाती हैं, बहू जमींदारिनी के बहाने हमको उसके पास ला रही है, तू क्या समझा? हम अपनी बात उससे खुलकर कह सकते हैं, नहीं तो मुछीका लगे बैलों से हमारी हालत अलग क्या है?"***[6] इंसान का इंसान होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी संवेदनशीलता अन्य लोगों के प्रति कैसी होगीI हर व्यक्ति के कार्य बंटे हुए होते हैं किन्तु कुछ लोग नकारात्मक विचारों से भरे हुए होते हैं और उनके यही विचार अन्य लोगों की मदद के आड़े आ जाते हैंI सकारात्मक विचारों के साथ चलने वाले व्यक्ति दूसरों की मदद बिना शर्तों के करते हैं जबकि नकारात्मक विचार रखने वाले मदद करने के लिए किसी न किसी बहाने की खोज में रहते हैंI मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में रामसिंह के माध्यम से ऐसे ही एक सकारात्मक विचारों वाले और परोपकारी पुरुष का उल्लेख किया है जो रोगियों का इलाज बिना किसी स्वार्थ या लालच के करता हैI उसे उन रोगियों के बारे में जानने की कोई दिलचस्पी नहीं, उसे तो बस अपने कार्य से मतलब हैI उपन्यास में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार दिया गया है- ***"उत्तर छोटा सा था, घायल, घायल होता है इलाज-उपचार का हकदार। राक्षस हो या आदमी, दर्द तो सबका एक सा होता है, किसी गाँव का हो, हमें क्या मतलब?"***[7] एक ही परिवार के दो पुरुष और दोनों की विचारधारा एक दूसरे के विपरीतI एक सकारात्मक विचारों का निर्वहन करता है तो वहीं दूसरा नकारात्मक विचारों का द्योतक है और इसी के चलते उसने पिता-पुत्री के पवित्र रिश्ते को भी कलंकित कर दियाI ऐसे पुरुषों को सिर्फ इसलिए ही बर्दास्त नहीं किया जा सकता कि वे नकारात्मक विचारों को लेकर चलते हैं बल्कि ऐसे पुरुष समाज और परिवार में कलंक माने जाते हैंI ऐसे ही एक पिता का उल्लेख मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यास 'गुनाह-बेगुनाह' में किया है जिसमेंएक पिता ने अपनी ही पुत्री का बलात्कार किया और वहीं उपन्यास में एक सकारात्मक विचारों से ओतप्रोत एक भाई का भी जिक्र किया गया है जिसमे भाई अपनी बहन से स्वावलंबी बन्ने और अपने पति को छोड़ने की बात करता हुआ नजर आता हैI जिसका उल्लेख इस प्रकार से उपन्यास की पात्र रेशमी, इला से करती हुई नजर आती है- ***"मामा का सहयोग देखकर मेरा अहसास दो धारों में फट जाता है। पापा और मामा, ये दो मर्द इतने अलग क्यों हैं? मामा ने ही कहा, 'रेशमी उस पिशाच के घर कभी नहीं जाएगी। बहन तुझे भी ऐसे पति पर थूक देना चाहिए। अपनी मेहनत पर भरोसा कर अपनी बेटी के संग रह।"***[8] न्याय के मार्ग पर चलना अक्सर दूभर होता है और खासकर यह और भी कठिन हो जाता है जब निर्णय लेते वक्त किसी अपने के विरोध में खडा होना पड़ता हैI परिस्थितयाँ अगर ऐसी बन जाएँ कि किसी खून से संबंधित व्यक्ति के खिलाफ अपने निर्णय लेने हो तो ऐसे में सामने वाले व्यक्ति को मानसिक तौर पर मजबूत होना पड़ता हैI मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यास 'फ़रिश्ते निकले' में ऐसे ही एक न्यायप्रिय पुरुष वीर का उल्लेख किया है, जिसमें वीर अपने पिता के विरुद्ध खडा है और - वह अपने पिता को उनके द्वारा किये गए अपराधों की सजा दिलवाना चाहता हैI वह सिरोधन ऊंटेरे से अपनी इस बात का जिक्र कुछ इस प्रकार से करता है***"मैंने अभी तक कहाँ सुस्ती दिखाई सिरोधन काका? सबसे पहला काम तो यही था कि रामरतन काका से हमारे रिश्तेदारों के खिलाफ एक एफ.आई.आर. कराई जाए। अब उजाला भी मिल गई है, केस लडा जायेगा क्यों कि केस लडना जरूरी है।"***[9] यह कहना अतिसंयोक्ति नहीं होगा कि अंग्रेजी भाषा को सीखे और जाने बगैर बेहतर शिक्षा का ज्ञान प्राप्त करना असंभव न भी हो तो कठिन तो जरूर हैI क्योंकि यह सर्वसम्मति से स्वीकार है कि अंग्रेजी विज्ञान का आधार है बिना अंग्रेजी को जाने हम विज्ञान को बेहतर तरीके से नहीं समझ सकतेI हमारे समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा जोकि मुख्य धारा से कटा हुआ है, वह इस भाषा का ज्ञान नहीं रखता और न ही विज्ञान का ज्ञान, शायद इसी वजह से वह विकास के मार्ग से पीछे रह गयाI मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में अंग्रेजी और विज्ञान के महत्त्व को उपन्यास के पात्र रामसिंह जोकि आधुनिक विचारधारा से भरा हुआ है, के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है- ***"राम सिंह काका कहता है– देख क्या रहा है, अभ्यास कर। यह तो सीखनी ही होगी। अब यह अँग्रेजों की नही, दुनिया भर की भाषा है। सबसे बडी बात साइंस का आधार है। अब हम ऐसी गलतियाँ नहीं करेंगे कि पीछे रह जाएँ। हमारे पुरखे इन्ही गल्तियों से इतने पिछडे कि हवा-पानी और धरती से बेदखल कर दिये गये। जमाना बदल रहा है, हम भी बदलेंगे।"***[10]

इस प्रकार मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों में पुरुषों के सकारात्मक और नकारात्मक विचारों को अपने पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया हैI 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में उनका एक पात्र अपने पिता से बदसलूकी करता हुआ नजर आता है तो वहीं इसी उपन्यास में माँ से बिछड़ने का दुःख राणा नामक पात्र इस कदर झेलता है कि वह अपनी माँ की याद में उसके द्वारा लाये गए कपड़ों से लिपट कर रोने लगता हैI 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में उन्होंने अपने ससुर का उल्लेख इस प्रकार किया है कि जैसे एक पिता अपनी पुत्री की देख-रेख करता हो और दूरदृष्टिता ऐसी कि बहू के द्वारा किये जाने वाले सारे कार्य उन्हें उचित प्रतीत होते हैंI इस प्रकार उन्होंने अपने समस्त उपन्यासों में पुरुषों के उन समस्त विचारों को उल्लिखित किया है जिससे पाठकों को पुरुषों की मानसिकता का बखूबी ज्ञान हो जाता हैI

****

सन्दर्भ सूची:

1. अल्मा कबूतरी
2. वही
3. वही
4. कस्तूरी कुण्डल बसै
5. वही
6. वही
7. अल्मा कबूतरी
8. गुनाह-बेगुनाह
9. फ़रिश्ते निकले
10. अल्मा कबूतरी

हिन्दी उपन्यासों के आधार पर किन्नरों की आर्थिक स्थिति

अमिता टेटे & डॉ. महेन्द्र कुमार वर्मा
अतिथि प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
जवाहरलाल नेहरु राजकीय महाविद्यालय
श्रीविजयपुरम, अंडमान निकोबार

भारतीय समाज विविधता से परिपूर्ण है, जहाँ विभिन्न धर्म, संस्कृति, जातियाँ तथा भाषाएँ सह-अस्तित्व में हैं। इसी सामाजिक संरचना में एक ऐसा समुदाय भी विद्यमान है, जिसे युगों से हाशिए पर रखा गया है—**किन्नर समुदाय**। यह समुदाय न तो पूर्णतः पुरुष है, न ही स्त्री; बल्कि यह एक ऐसे तीसरे लिंग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे समाज ने लंबे समय तक नकारा, अपमानित किया और मुख्यधारा से अलग रखा। "किन्नर" शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के लिए किया जाता है, जिनकी लिंग पहचान पारंपरिक पुरुष या स्त्री की परिभाषा में नहीं आती। इनकी पहचान एक **'तृतीय लिंग'** के रूप में होती है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में "किन्नर" शब्द का उल्लेख एक अलौकिक प्राणी या गंधर्व के रूप में मिलता है, जो संगीत और नृत्य में पारंगत होते थे। महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों में किन्नरों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में किन्नरों को सम्मान प्राप्त था, परंतु कालांतर में सामाजिक सोच में गिरावट आने लगी और यह समुदाय उपेक्षा व तिरस्कार का पात्र बन गया। भारतीय संविधान ने भी अब इस समुदाय को विधिक मान्यता प्रदान की है। भारतीय उच्चतम न्यायालय ने वर्ष 2014 में एक ऐतिहासिक निर्णय के माध्यम से किन्नरों को **"थर्ड जेंडर"** के रूप में मान्यता दी, जिससे इन्हें भी शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य तथा अन्य मूलभूत अधिकार प्राप्त हो सके। नि:संदेह हमारी सरकार और संविधान नें इन्हें थर्ड जेंडर के रूप में मान्यता दे दी है ताकि इनको वो समस्त मूलभूत अधिकार प्राप्त हो सकें जिससे इनका जीवन भी देश के एक आम नागरिक की भांति हो सके और ये भी अपने जीवन को भेदभाव रहित जी सकेंI किन्तु वास्तविकता इससे अलग है और आज भी हमारे समाज में किन्नर वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा रोजगार की तलाश में और सुविधाओं के अभाव में अपने जीवन को नारकीय कर रहा हैI

तृतीयलिंगी समुदाय में सबसे बड़ी समस्या बेरोजगारी की है। इसके पीछे समाज की रूढ़िवादी मानसिकता है। क्योंकि बचपन में परिवार के सदस्य इन्हें बेघर कर देते हैं इसके उपरांत समाज में कोई भी इन्हें रोजगार के नाम पर किसी भी प्रकार का कोई काम नहीं मिलता जिसके चलते इन्हें अपनी भूख मिटाने के लिए दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं। निर्मला भुराड़िया के उपन्यास 'गुलाम मंडी' में ऐसे ही एक संदर्भ का उल्लेख किया गया है जिसमें उपन्यास की पात्र अंगूरी, जोकि तृतीयलिंगी है परिवार में प्रताड़ित होने की वजह से घर से भाग जाती है किंतु घर से भागने के उपरांत उसे कई दिनों तक स्वयं को भूखा रखना पड़ा क्योंकि न तो उसके पास पैसे थे और ना ही कोई उसे तृतीयलिंगी होने की वजह से काम देता था। उपन्यास में अंगूरी ने अपनी व्यथा को इस प्रकार वर्णित किया है- ***"मैं घर से भाग गयी पर भूखी मर गयी, कोई काम भी नहीं देता था। लोगों के घर बर्तन माँजने गयी तो बोले, हिजड़ों से बर्तन मंजवाएंगे क्या?"***[1] इनके बेरोजगार होने में जितनी भूमिका समाज और परिवार की है उतनी ही प्रशासन की भी है। ऐसा तृतीयलिंगी समाज का मानना है। इसके पीछे उनका तर्क है कि यदि प्रशासन चाहे तो तृतीयलिंगी समुदाय के उत्थान के लिए प्रशासन एक मुहिम चला सकती है जैसा कि वह कुछ तथाकथित जातियों के लिए चलाती है ताकि तृतीयलिंगी समाज भी रोजगार प्राप्त कर विकास की मुख्य भूमिका में आ सके। किंतु विद्यालयों से लगाकर सरकारी पदों तक इनकी कोई भूमिका नहीं है। नीरजा माधव कृत 'यमदीप' उपन्यास में ऐसा ही एक संदर्भ दिया गया है। जिसमें उपन्यास के मुख्य तृतीयलिंगी पात्र महताब गुरू तृतीयलिंगियों के बेरोजगार होकर दर-दर भटकने से दखी हैं और वह नाजबीबी को लेने आये उसके माता-पिता से इस प्रकार अपना दुख प्रकट करते हैं- ***"यह आप नहीं आपका प्रेम बोल रहा है, माता जी। किसी स्कूल में आज तक किसी हिजड़ा को पढ़ते-लिखते देखा है? किसी कुरसी पर हिजड़ा बैठा है? पुलिस में, मास्टरी में, कलेक्टरी में,....किसी में भी? ....अरे इसकी दुनिया यही है, माता जी.....कोई आगे नहीं आयेगा कि हिजड़ों को पढ़ाओ, लिखाओ, नौकरी दो, जैसे कुछ जातियों के लिए सरकार कर रही है। हमारे लिए तो वो भी नहीं।"***[2] बेरोजगारी के चलते तृतीयलिंगी समुदाय मजबूर हो जाता है सड़कों पर ताली पीटने के लिए और भीख मांगने के लिए क्योंकि समाज जब इन्हें कोई काम नहीं देता तब ऐसी स्थिति में इनकी भूख इनसे ये सब करवाने के लिए बाध्य कर देती है। समाज का हर व्यक्ति चाहता है कि वह इज्जत के साथ रहे और उसे जरूरत की हर वस्तु मिल जाए। न उसे खाने की समस्या हो और न ही पहनने और रहने की। किंतु जब परिवार और समाज से बेदखल कर छोड़ दिया जाता है इन्हें अपने हाल पर तब पेट की भूख इनसे भीख तक मंगवा लेती है। पारू मदन नाईक के उपन्यास 'मैं क्यों नहीं' में उपन्यास की प्रमुख तृतीयलिंगी पात्र नाज अपनी माँ से बताती है कि समाज जिन तृतीयलिंगियों की भीड़ को ताली पीटते हुए सड़कों पर देखता है वह अपनी इच्छा से ऐसा नहीं करते, बल्कि उनकी मजबूरी है क्योंकि भूख तो उनको भी लगती है। नाज ने उपन्यास में बेरोजगारी की मार झेल रहे तृतीयलिंगियों की मजबूरी का उल्लेख अपनी माँ से इस प्रकार किया है- ***"बीच सड़क पर तालियाँ पीटकर लोगों को रोकने वाली हमारी टोलियाँ आपको दिखाई देती हैं, पर क्या किसी ने सोचा है कि वे ऐसा क्यों करते हैं? माँ, जिस परमेश्वर ने ऐसा जन्म दिया, उसे कम से कम हमारी भूख निकाल लेनी चाहिए थी। पापी पेट के लिए सड़कों पर की जाने वाली ये घिनौनी हरकतें तो थम जातीं। माँ, हम सच में बदलने का प्रयास करते हैं, लेकिन वहाँ भी हमारा मखौल ही उड़ाया जाता है। ना घर का, ना घाट का। जाएँ तो कहाँ जाएँ?"***[3] प्रदीप सौरभ कृत 'तीसरी ताली' उपन्यास में भी ऐसा ही एक संदर्भ देखने को मिलता है जिसमें उपन्यास की तृतीयलिंगी पात्र कला मौसी बुढ़ापे और बेरोजगारी के चलते दर-दर भीख मांगती हुई नजर आती है जिससे अन्य तृतीयलिंगी मौसी को इस तरह समझाते हुए नजर आते हैं- ***"उसने कई बार कला मौसी को समझाया, अपने इलाके में नाच -गाकर पैसे कमा। भिखारियों की तरह सिग्नल पर क्या भीख मांगती है! अपने साथ हम सब की इज्जत का भी कचरा करती रहती है।"***[4] इसी उपन्यास में तृतीयलिंगी पात्र सुनयना और पिंकी को

जब कहीं कोई काम नहीं मिल पा रहा था तब वे दोनों कला मौसी के पास गयीं ताकि कुछ मदद हो सके। किंतु कला मौसी खुद ही भीख मांग कर अपना गुजारा कर रही थी और उसने सुनयना और पिंकी को भी भीख मांग कर गुजर-बसर करने की सलाह दी। उपन्यास में इस संदर्भ का उल्लेख इस प्रकार किया गया है- ***"उन्होंने कहा कि ज्यादा ही परेशानी है तो तुम भी हमारे साथ सिग्नल पर खड़ी हो जाओ। इतने पैसे तो कार वाले दे ही जाते हैं कि तुम लोगों का पेट पल जाए। सिग्नल पर नहीं खड़ा होना है तो मार्केट ताली ठोंक-ठाककर दुकानदारों से वसूली कर लो। मरता क्या न करता! दोनों मौसी के साथ सिग्नल पर खड़े हो गये।"***[5] तृतीयलिंगी समुदाय के पास जीविकोपार्जन का मुख्य साधन इनका परंपरागत पेशा ही माना गया है। जिसे यह एक धार्मिक रूढ़िवादिता के चलते, कि भगवान राम ने उन्हें ऐसा करने का आशीष दिया है समझकर करते हैं। इसके अंतर्गत तृतीयलिंगी समुदाय अपने सहयोगियों के साथ उस घर में जाते हैं जहाँ किसी नवजात शिशु का जन्म हुआ होता है या फिर वहाँ किसी कार्यक्रम का आयोजन हो रहा होता है। ऐसे घरों में जाकर ये नाच-गाना करते हैं और नवजात शिशु को अपना आशीष देते हैं और बदले में उस घर के सदस्यों से अपने लिए धन की मांग करते हैं। इस कार्य को ये लोग बधाई के रूप में करते हैं। कभी-कभी इन्हें अपने इस कार्य में आसानी से धन की प्राप्ति हो जाती है किंतु अधिकतर मामलों में इन्हें घर के सदस्यों से धन प्राप्त करने में काफी मशक्कत करनी पड़ती है और कभी-कभी तो बहुत मशक्कत के बाद भी इनको खाली हाथ ही लौटना पड़ता है। प्रदीप सौरभ कृत 'तीसरी ताली' में ऐसा ही एक संदर्भ देखने को मिलता है जिसमें उपन्यास के पात्र गौतम साहब के यहाँ बच्चे का जन्म होता है और यह खबर तृतीयलिंगी समुदाय को प्राप्त हो जाती है। तृतीयलिंगी समुदाय अपने पेशे के मुताबिक गौतम साहब के घर पहुंचकर नाच-गाना करते हैं और बदले में धन की मांग करते हैं। किंतु गौतम साहब अपने घर से नहीं निकले। गौतम साहब के इस व्यवहार से नाराज तृतीयलिंगी समुदाय ने उन्हें कुछ अपशब्द भी कहे ताकि वो बाहर आकर उन्हें कुछ दे सकें। उपन्यास में इस घटना का उल्लेख लेखक ने इस प्रकार किया है- ***"गौतम साहब, लल्ला हुआ है और गरमी में रजाई ओढ़कर बैठे हो! सुंदरी ने ताली ठोंककर दरवाजा जोर से भड़भड़ाया। सुंदरी की ताल में ताल मिलाते हुए बिंदिया बद्दुआ देते हुए कड़ुवाहट के साथ बोली, हिजड़ों को शगुन नहीं दोगे तो लल्ला हिजड़ा निकलेगा। फिर भी अंदर से कोई सुगबुगाहट नहीं हुई, तो मण्डली की सरगना डिम्पल और उसके साथी सुर में सुर मिलाकर लगभग चिल्लाने के अंदाज में बोलने लगे, गौतम का बच्चा हाय-हाय....।"***[6] ऐसा ही एक और संदर्भ सुभाष अखिल कृत 'दरमियाना' उपन्यास में भी देखने को मिलता है। जिसमें उपन्यास की मुख्य तृतीयलिंगी पात्र तारा और उसके सहयोगी एक ऐसे घर में नाच-गाना कर पैसे की मांग कर रहे थे जिस घर में बच्चे का जन्म हुआ होता है। उपन्यास में आँसू ने इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है- ***"न-री-न! इक्यावन से कम नहीं लूँगी, हाँ! पहला लड़का होया है- और वो भी चाँद सा। एक दूसरे दरमियाने ने ताली दे मारी, खुदा करे, हमरी उमर भी इसे लग जाये..... बुरी नजर बाल भी न छू सके इसका।"***[7] इसी उपन्यास में ऐसे ही एक और संदर्भ का जिक्र किया गया है। जिसमें उपन्यास की तृतीयलिंगी पात्र सुनंदा और उसके साथी आँसू के किसी मित्र के घर बधाई लेने जाते हैं और वहाँ नाच-गाना कर अपनी बधाई मांगते हैं। उपन्यास में आँसू ने इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है- ***"न री बहना! देख चाँद उतरा है तेरे आँगन में.....और मैंने कौन से ज्यादा माँग लिए तेरे से.....पाँच सौ ही तो माँगे हैं। हमारे पास भी कुछ और हो न हो, मगर पेट तो लगा है बहना!....बता हम अंदाज!"***[8] जहाँ तृतीयलिंगी समाज के अधिकांश व्यक्ति अपने इस पेशे को बधाई के रूप में मानते हैं वहीं कुछेक तृतीयलिंगी इसे एक प्रकार की भीख समझते हैं। मजबूरी में इस पेशे को अपनाने वाले ऐसे तृतीयलिंगी व्यक्ति का तर्क है कि भले ही हम इसे दूसरों को आशीष देते हुए मांगते हैं किंतु यह किसी भीख से कम नहीं। भगवंत अनमोल कृत 'जिंदगी 50 50' उपन्यास में ऐसा ही एक संदर्भ उल्लिखित है। जिसमें उपन्यास की तृतीयलिंगी पात्र कस्तूरी मिलने आई अपने ही जैसी हर्षा को इस प्रकार अपने पेशे के बारे में बताती है- ***"हाँ, का हमें भीख माँगे मा बड़ा नीक लागत है? तुमही बताओ भीख माँगना किसे नीक लागत है? हाँ, हम अपने दिलासा के लिए इसे नेग और आशीर्वाद के नाम पर पैसा माँगते हैं पर है तो एक तरह का भीख ही!"***[9] तृतीयलिंगियों द्वारा बधाई व नाच-गाना वाले पेशे को अपनाये जाने को ही अपनी नियति माने जाने का एक संदर्भ महेन्द्र भीष्म कृत 'मैं पायल' उपन्यास में देखने को मिलता है। जिसमें उपन्यास की तृतीयलिंगी पात्र पायल को जब कुछ तृतीयलिंगी पकड़ कर अपने समुदाय में ले जाते हैं तब उनकी गुरू पायल के द्वारा इस पेशे को अपनाने से मना करने पर समझाती हैं और कहती हैं कि यही पेशा हमारी नियति है और तुम्हें भी यही करना होगा। उपन्यास में इस घटना का उल्लेख पायल ने इस प्रकार से किया है- ***"गुरूमाई मेरी पीठ सहलाते हुए बोली, देख बेटा! हम हिजड़ों की यही नियति है.....दूसरों के सुख में, खुशी में सम्मिलित हो बधाई गाना-बजाना और उनसे इनाम-बख्शीश पाना। रिया! इसे ले जाओ नहलाओ-धुलाओ, अच्छा खाना-पीना करो। जाओ बेटा! इन लोगों के साथ, जैसा ये कहें वैसा करो।"***[10] तृतीयलिंगी समुदाय के अधिकांश व्यक्ति अपने जीवन-यापन के लिए वैश्यावृत्ति का रास्ता अपना लेते हैं। इसके पीछे समाज का इनके प्रति तिरस्कार पूर्ण रवैया है जिसके चलते इन्हें कहीं काम नहीं मिलता और जिसके परिणामस्वरूप इन्हें गरीबी और भुखमरी का सामना करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में इन्हें वैश्यावृत्ति का रास्ता चुनना पड़ता है। आर्थिक तंगी के चलते इन्हें अपने जीवन-यापन के लिए मूलभूत जरूरतों को पूरा करने में समस्या का सामना करना पड़ता है। जैसे भोजन, रहने के लिए उचित स्थान, स्वास्थ्य संबंधी जरूरतें इत्यादि की पूर्ति हेतु इन्हें दर-दर भटकना पड़ता है। जिसके चलते इनके पास कोई अन्य विकल्प शेष नहीं बचता और अंतत: मजबूर होकर वैश्यावृत्ति का सहारा लेना पड़ता है। प्रदीप सौरभ कृत 'तीसरी ताली' उपन्यास में ऐसा ही संदर्भ दिया गया है जिसमें बताया गया है कि वैश्विक बाजार में मंदी की वजह से भारत में वैश्यावृत्ति का धंधा भी धीमा हो गया था और अब ग्राहक लड़कियों की जगह तृतीयलिंगियों और लड़कों के साथ संबंध बना रहे थे। क्योंकि लड़कियों की तुलना में तृतीयलिंगी और लड़के कम दाम में उपलब्ध हो जाते थे और तृतीयलिंगी समुदाय के व्यक्ति की जरूरतें भी उन्हें इस धंधे की ओर खींच रही थीं और कम पैसों में भी इन्हें वैश्यावृत्ति करने में कोई एतराज नहीं था। क्योंकि कम ही सही लेकिन पैसे तो मिल ही जाते थे जिससे ये अपनी जरूरतें पूरी कर सकते थे। उपन्यास में इस बात का उल्लेख इस प्रकार किया गया है- ***"अब बाजार की हालत यह थी कि हर ग्राहक सस्ती लड़कियों की माँग करने लगा। लड़कियाँ न मिलें तो ऐसे ग्राहक हिजड़ों और लौण्डों से भी काम चलाने को तैयार थे।"***[11] नीरजा माधव के उपन्यास 'यमदीप' में महताब गुरू ने अपने चेलों को गिरिया रखने की खुली आजादी दे दी क्योंकि वे नहीं चाहते कि उनके समुदाय का कोई भी व्यक्ति रोग-ग्रस्त हो। क्योंकि आर्थिक तंगी के चलते उनके तृतीयलिंगी शिष्य अप्राकृतिक यौन संबंध बना रहे थे। जिससे उनमें एड्स जैसी भयंकर यौन बीमारी फैलने का खतरा था। उपन्यास में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है- ***"पैसों के अभाव में अपने चेलों को दुष्कर्म में लिप्त देख उनकी चिंता बढ़ गई तो उन्होंने गिरिया रखने की परंपरा को खुलेआम इजाजत दे दी।***

कम से कम एक व्यक्ति के साथ बंधकर उनका जीवन रोग-ग्रस्त तो नहीं होगा।"[12] किन्नर कथा के लेखक महेन्द्र भीष्म ने ऐसे तृतीयलिंगियों का वैश्यावृत्ति कार्य करते हुए चित्रण किया है जो नकली हैं और गरीबी और भुखमरी के चलते इस कार्य को करने के लिए मजबूर हैं। कलेक्टर आयुष और पुलिस अधीक्षक निखिल ने जब इन नकली तृतीयलिंगियों को ट्रक ड्राइवरों के साथ वैश्यावृत्ति के लिए सौदा करते हुए पकड़ा और पूछताछ शुरू की तो ड़र के मारे इन नकली तृतीयलिंगियों ने सारा सच तुरंत ही उगल दिया और अपनी गरीबी और कहीं काम न मिलने की लाचारी वाली बात भी बतायी। जिसका उल्लेख उपन्यास में इस प्रकार किया गया है- ***"जी हुजूर मैं रहमान हूँ, गांव में स्वांग मंडली के साथ नाचने-गाने का काम करता हूँ, दो रोज पहले अब्दुल भाई मुझे छतरपुर लेकर आये थे। मेरे बाप ने गरीबी से तंग आकर खुदकुशी कर ली थी हुजूर! तीन छोटी बहनें हैं, बूढ़ी माँ है हुजूर, गांव में कोई काम मांगने पर कोई काम नहीं देता। स्वांग वाला, खसुआ, जनखा, हिजड़ा कहकर टरका दिया जाता है। ताने मारते और हँसते-छेड़ते हैं मुझे। छह दिन से घर में चूल्हा नहीं जला। हुजूर! भूखों मरने की नौबत आ गयी है। मांग-मूंग कर दूसरों की दया पर जी रहे हैं हुजूर! भला हो अब्दुल भाई का। उन्होंने लंबू हिजड़े से मिलवा दिया। दो दिन में तीन सौ कमा लिए हुजूर। सोचा था कल सुबह गांव चला जाऊंगा। माँ और बहनों को खिलाकर ही कुछ खाने की कसम खाई थी हुजूर, सच कह रहा हूँ, खुदा कसम।"***[13]

सर्वविदित है कि भारत सरकार द्वारा **"ट्रांसजेंडर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 2019"** लागू किया गया, जिसका उद्देश्य इस समुदाय के अधिकारों की रक्षा करना और उन्हें सामाजिक न्याय प्रदान करना है और कई राज्य सरकारें भी किन्नरों के लिए आरक्षण, रोजगार प्रशिक्षण, एवं स्वास्थ्य सेवाओं की योजनाएँ चला रही हैं। इसके अतिरिक्त, विभिन्न सामाजिक संगठनों तथा जागरूक नागरिकों द्वारा भी इस समुदाय को मुख्यधारा में लाने के लिए सतत प्रयास किए जा रहे हैं। किन्तु आज भी किन्नर समुदाय को समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं है। इन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं, एवं नौकरी के अवसरों से प्रायः वंचित रखा जाता है। अधिकांश किन्नर मजबूरीवश भीख माँगने, बधाई देने या यौन व्यापार जैसे कार्यों में संलग्न होते हैं। समाज का एक बड़ा वर्ग इन्हें हेय दृष्टि से देखता है, जिससे इनकी आत्म-गरिमा और सम्मान को ठेस पहुँचती है। इसलिए यह सहर्ष स्वीकार करना होगा कि किन्नर समुदाय भी हमारे समाज का अभिन्न अंग है। उन्हें तिरस्कार नहीं, सम्मान की आवश्यकता है। जब तक हम अपनी सोच में परिवर्तन नहीं लाएँगे, तब तक कोई भी विधिक प्रावधान उन्हें वास्तविक गरिमा प्रदान नहीं कर सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार, सम्मान और अवसर मिलना चाहिए, चाहे वह किसी भी लिंग से संबंधित क्यों न हो। समाज तभी पूर्ण होगा जब उसमें हर वर्ग को समुचित स्थान मिलेगा और यही एक समावेशी और न्यायपूर्ण भारत की पहचान होगी।

****

सन्दर्भ सूची:-

1. गुलाम मंडी, पृ. – 71
2. यमदीप पृ. – 94
3. मैं क्यों नहीं, पृ. – 87
4. तीसरी ताली, पृ.- 14
5. वही, पृ.- 170
6. वही, पृ.- 11
7. दरमियाना पृ.- 14
8. वही, पृ.- 65
9. जिन्दगी 50-50, पृ.- 139

नहर में बहती लाशें" में समाज की वर्गीय संरचना

उमा बणिचुल
शोधार्थी
हिंदी विभाग विश्वविद्यालय -हैदराबाद

साहित्य समाज का दर्पण होता है। अर्थात सामाजिक प्राणी मानव के जीवन से संबोधित समस्त विषय साहित्य में समाहित होते हैं। राजू शर्मा द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों से संबंध रखने वाले ग्रामीण व नगरीय परिवेश में रहकर जीवन यापन करने वाले मानव के जीवन के विविध रूपों को अपनी कथावस्तु का आधार बनाया।

लेखक राजू शर्मा द्वारा उच्च, मध्य व निम्न वर्गों में विभाजित भारतीय समाज को प्रमुख रूप से अपनी कृतियों का विषय बनाया।

समाज की वर्गीय संरचना:-व्यक्तियों का समूह ही समाज है। समाज से संबंध रखने वाले को सामाजिक कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत तीन वर्ग को देखने को मिलते हैं यथा- उच्च वर्ग, मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग।

उच्च वर्ग :- उच्च वर्ग को धानाढ्य वर्ग भी कह सकते हैं। इस वर्ग का उदय उद्योग विकास के साथ जुडा हुआ है। इस वर्ग का प्रभुत्व समाज की आर्थिक सत्ता पर निर्भर है। जमींदार, पूँजीपति, साहूकार, व्यापारी, उद्योगपति आदि इस वर्ग में आते हैं। शासन का संचालन इसी वर्ग द्वारा होता है। पूँजीपतियों द्वारा मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग का शोषण कर उच्च वर्ग का ताज पहना जाता है।

मध्य वर्ग :-उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच जो वर्ग आता है उसे मध्य वर्ग कहा जाता है। क्लर्क, सरकारी अफसर, वकील, डॉक्टर, छोटे व्यापारी आदि इस वर्ग में आते हैं। इस वर्ग के लोग उच्चाभिलाषी होते हैं। कम आय में बहुत कुछ करने का सपना देखते हैं, अतः उनका दैनिक जीवन अभिलाषाओं की पूर्ति करने के कारण कष्टमय होता है।

निम्न वर्ग:- निम्न वर्ग की आय कोई निश्चितता नहीं होती, ऐसे व्यक्ति इस वर्ग में आते हैं। जैसे श्रमिक,मजदूर,कुली,नौकर,छोटे किसान,रिक्शावाला आदि। इस वर्ग की यह विशिष्टता है कि श्रम दान करके उच्च वर्ग की सेवा करना इनका प्रमुख कर्तव्य होता है। खुद को भूखा रखकर उच्च वर्ग को छप्पन भोग प्रधान करना तथा सड़क एवं झोपड़ी में जीवन यापन करते हुए उच्च वर्ग को आलीशान महल प्रदान करने इस वर्ग की पूरी जिंदगी लग जाती है।

राजू शर्मा के काहानी संग्रह 'नहर में बहती लाशें' में एक प्रमुख कहानी 'नहर में बहती लाशें' भी है। इस कहानी का मुख्य पात्र श्यामल है। जिसके माध्यम से कहानीकार ने मध्यवर्ग को प्रतिबिंबित किया है। श्यामल घोष पन्द्रह साल अमेरिका में रहा तत्पश्चात भारत लौटा। उसके पिताजी का नाम अरविन्द घोष एवं माताजी का नाम कमलनयनी घोष था। पिता के नहीं रहने के कारण माताजी के साथ बड़ौदा में रहता था। श्यामल घोष एक फोटो जर्नलिस्ट था इसलिए अपने घर की पहली मंजिल पर उसने स्टूडियो बना रखा था। एक दिन उसके हाथ एक मनोग्राफ लगा। मनोग्राफ का शीर्षक था- 'द मैजिक ऑफ भाखडा नांगल अ पर्सनल मेमुआर'। मनोग्राफ श्यामल के जेहन में निरन्तर दस्तक देता रहा। श्यामल का विचार भाखडा नांगल पर एक फोटो फीचर बनाने का था। जिसके विषय में कहा गया है- "श्यामल के मन में जिद पैदा की। उसकी योजना का आकार निरन्तर करवट लेता फोटो फीचर के साथ वृत्तचित्र क्यों नहीं? एक छोटी फिल्म भी हो सकती है। डिजिटल टेक्नोलॉजी में खर्चा बहुत नहीं है। पैसा जुटा सकता है।" इससे स्पष्ट होता है कि श्यामल घोष कुछ करना तो चाहता है परंतु पैसों की

कमी के कारण गंभीर सोच पड़ जाता है कि फोटो फिचर, वृत्तचित्र अथवा छोटी फिल्म बनाए की नहीं। आखिर क्या करें? फिर सोचता है कि जो कम खर्च में होगा उसको करेगा। उसके पास पैसा होता तो शायद अलग-अलग बना सकता था। इसी चीज को लेकर इतना गहन सोच विचार मध्य वर्ग की मनस्थिति को दर्शाता है।

कहानी संग्रह 'नहर में बहती लाशें' की अंतर्गत 'आई.टी.ओ. क्रॉसिंग' एक प्रमुख कहानी है इस कहानी में लोबन एक बाल एवं मुख्य पात्र है। इसके माध्यम से कहानीकार ने निम्न वर्ग के बाल चरित्र का चरित्र चित्रण किया है। लोबन पन्द्रह साल का एक बालक जो कि सहारनपुर जिले के एक गाँव में रहता था। जब उसके पिता-माता जीवित थे , उसका जीवन सरलता से गुजर रहा था। अभी पिता की मृत्यु को कुछ ही समय हुआ था की माता का भी देहांत हो गया। लोबन अब रिश्ते में मामा लगने वाले व्यक्ति के साथ रहने लगा। मामा अच्छा था या बुरा नहीं कहा जा सकता लेकिन लोबन मामा को पसंद नहीं करता था। अंतः एक दिन मौका देख कर लोबन मामा के घर से भाग कर दिल्ली चला गया। दिल्ली के फुटपाथ का टूटा-फूटा घर उसका घर बन गया। उसने धीरे-धीरे खतरों से आगे बढना और पनपना सीखा। वह काम की तलाश में इधर-उधर भटकने लगा। उसी समय बुद्धराम नाम के एक आदमी उसकी मुलाकात हुई। बुद्धराम उसे मैगजिन, पत्र-पत्रिका, किताब आदि घूमकर बेचने का काम देता। बुद्धराम का खुला घोषित ऑफर था कि कम से कम वह उसे दो रूपए देगा और दौ सौ से ऊपर विक्री होने पर कमिशन भी देगा। लोबन अपना व्यापार शूरू करना चाहता था परंतु उसके पास पूँजी नहीं थी। वह सोचता- "अगर किसी तरह उसके पास शुरूआत करने का पैसा हो 10,000 रूपए भी... तो वह परिश्रम और होशियारी से अपनी बचत हर साल दूनी कर सकता है।" लोबन के पास पैसा नहीं था लेकिन उसकी अभिलाषा आसमान छूने की थी।

कहानी संग्रह 'नहर में बहती लाशें' में एक मुख्य कहानी 'जलन' है इस कहानी मुख्य स्त्री पात्र शशिबाला है। शशिबाला के माध्यम से कहानीकार ने मध्यवर्ग को दर्शाया है। शशिबाला ने मनहरलाल से शादी की थी। शादी की बाद वह पति के साथ शहर से कुछ दूरी पर रहती थी। शशिबाला और मनहर के दो पुत्र थे। बड़ा सुमन और छोटा रघु। सुमन बडा हो गया था जो अब पिता के काम में हाथ बटाता था एवं रघु स्कूल में पढता था। शशिबाला की एक बहन थी। मनहरलाल का भी एक भाई था। शशिबाला की बहन का नाम रजनीबाला एवं मनहर लाल के भाई का नाम मदनलाल था। शशिबाला की बहन रजनीबाला तथा मनहरलाल के भाई मदनलाल का विवाह होने के बाद उन लोगों ने भी गाँव छोड दिया। रजनीबाला तथा मदनलाल भी शशिबाला, मनहरलाल के पास आकर रहने लगे। उनके भी दो पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ दिन अच्छे से एक परिवार के तरह रहे। मनहर लाल बहुत परिश्रमी था जो दूध, छेना बेचने का काम करता था। इसलिए लोग मनहरलाल को यादव के नाम से भी जानते थे। बाद में उसने एक किराये की दुकान ले ली। उसके परिश्रम और अच्छे व्यवहार के कारण उसका व्यापार अच्छा चल रहा था। मदनलाल दूसरे काम कर रहा था। उसके परिश्रमी न होने से उसके व्यापार में हानी होने लगी। जिसके कारण वह अपने परिवार को लेकर शहर चला गया। उसके बड़े बेटे का नाम सम्राट था। जब मदनलाल का परिवार शहर चला गया तो शशिबाला की तबियत खराब रहने लगी। तबियत खराब होने की खबर सुनकर रजनीबाला का परिवार यादव जी के घर आया। रजनीबाला का परिवार आते ही शशिबाला के परिवार एवं एहसान का गुणगान करने लगा। शशिबाला अपने परिवार का बेहिसब गुणगान सुन कर रजनीबाला को अपने नए घर और व्यापार के बारे में बताने लगी। उसने बताया की दुकान और सप्लाई के काम में बचत इतनी है कि किस्तें आसानी से चुक जाती हैं, क्योंकि मार्जिन खूब है...। बार-बार कहती 'इम्बैसी अच्छे मार्जिन पर हर तरह का विदेशी सामान मिल जाता है। पूरी बाते सुनकर रजनीबाला वहाँ से उठकर चली जाती है परंतु अपनी बहन शशिबाला का सुख और चैन अपने साथ ले जाती है और बदले में शशिबाला के लिए छोड गई अशांत भ्रमों के जाल और भयानक दर्द के साथ जलन को, छाया की तरह रहती है।

शशिबाला ने यादव जी से कहा- "तुम अपना काम बदलो यादव जी, मुफ्तखोरी का फायदा उठाओ तीन का तेरह कर। ऐसा काम लो जहाँ ससुरी इम्बैसी से वास्ता पडे और मार्जिन अच्छा हो।" इससे स्पष्ट होता कि शशिबाला मुनाफा के लिए मान-सम्मान खो बैठती है। वह यादव जी को गलत रास्ते पर जाने को कहती है।

****

संदर्भ:-

1. राजू शर्मा- नहर में बहती लाशें, पृ.सं. – 23.
2. राजू शर्मा- नहर में बहती लाशें, पृ.सं. – 49.
3. राजू शर्मा- नहर में बहती लाशें, जलन, पृ.सं. – 91.

महिला वकीलों में भूमिका संघर्ष एवं सामंजस्य

श्रीमती सीमा सोनी
सहायक प्राध्यापक - समाजशास्त्र
शासकीय कन्या महाविद्यालय सिंगरौली (म.प्र.)

सारांश-प्रस्तुत शोध पत्र महिला वकीलों के व्यावसायिक जीवन में उत्पन्न होने वाले भूमिका संघर्ष और उनके समाधान के लिए अपनाए जाने वाले सामंजस्य की रणनीतियों का विश्लेषण करता है। यह अध्ययन दिखाता है कि कैसे महिला वकील अपनी व्यावसायिक जिम्मेदारियों और पारिवारिक दायित्वों के बीच संतुलन बनाने का प्रयास करती हैं। शोध में पाया गया कि महिला वकीलों को पारंपरिक लैंगिक भूमिकाओं, सामाजिक अपेक्षाओं, कार्यक्षेत्र की चुनौतियों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच निरंतर संघर्ष का सामना करना पड़ता है। हालांकि, समय प्रबंधन, पारिवारिक सहयोग, तकनीकी सुविधाओं का उपयोग और संस्थागत सुधारों के माध्यम से यह संघर्ष कम हो सकता है। यह अध्ययन न्यायिक व्यवस्था में लैंगिक समानता और महिला वकीलों की बेहतर स्थिति के लिए नीतिगत सुझाव भी प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द-महिला वकील, भूमिका संघर्ष, कार्य-जीवन संतुलन, लैंगिक समानता, व्यावसायिक चुनौतियां, सामाजिक भूमिकाएं, न्यायिक व्यवस्था, पारिवारिक जिम्मेदारियां, व्यावसायिक सामंजस्य, महिला सशक्तिकरण

भूमिका / प्रस्तावना- भारतीय न्यायिक व्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी पिछले कुछ दशकों में निरंतर बढ़ी है। स्वतंत्रता के समय जहां न्यायिक क्षेत्र में महिलाओं की उपस्थिति नगण्य थी, वहीं आज देश भर में हजारों महिलाएं वकालत के पेशे से जुड़ी हुई हैं। बार काउंसिल ऑफ इंडिया के आंकड़ों के अनुसार, वर्तमान में भारत में पंजीकृत वकीलों में लगभग 15-20% महिलाएं हैं, जो एक उत्साहजनक प्रगति है।

हालांकि, इस संख्यात्मक वृद्धि के बावजूद, महिला वकीलों को अपने व्यावसायिक जीवन में अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। सबसे प्रमुख चुनौती है भूमिका संघर्ष - जहां एक ओर वे एक सफल और प्रतिष्ठित वकील बनने की आकांक्षा रखती हैं, वहीं दूसरी ओर समाज उनसे पारंपरिक स्त्री भूमिकाओं - पत्नी, मां, और गृहिणी के रूप में अपेक्षाएं रखता है। यह द्विविधा केवल व्यक्तिगत स्तर पर नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक और संस्थागत स्तर पर भी दिखाई देती है। न्यायालयों की कार्यप्रणाली, कानूनी पेशे की संरचना, और सामाजिक मानसिकता - ये सभी कारक महिला वकीलों के लिए अतिरिक्त बाधाएं उत्पन्न करते हैं।

विषय वस्तु

भूमिका संघर्ष के मुख्य आयाम

1. पारंपरिक लैंगिक भूमिकाओं का दबाव- भारतीय समाज में महिलाओं से अपेक्षा की जाती है कि वे प्राथमिक रूप से घर और परिवार की देखभाल करें। यह सामाजिक अपेक्षा महिला वकीलों के लिए विशेष रूप से चुनौतीपूर्ण है क्योंकि वकालत का पेशा अक्सर लंबे घंटों, अनियमित समय सारणी, और गहन अध्ययन की मांग करता है। विवाह के बाद यह संघर्ष और भी तीव्र हो जाता है। ससुराल और पति के परिवार से अपेक्षा की जाती है कि महिला अपने करियर को द्वितीयक प्राथमिकता दे। मातृत्व के समय यह स्थिति और भी जटिल हो जाती है, जहां महिला वकीलों को अपने व्यावसायिक लक्ष्यों और मातृत्व की जिम्मेदारियों के बीच चुनाव करना पड़ता है।

2. व्यावसायिक चुनौतियां - न्यायालयीन व्यवस्था की संरचना अभी भी काफी हद तक पुरुष-केंद्रित है। महिला वकीलों को निम्नलिखित व्यावसायिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है:

न्यायाधीशों और सहयोगियों का पूर्वाग्रह: कई बार न्यायाधीश और पुरुष सहयोगी महिला वकीलों की क्षमताओं पर संदेह प्रकट करते हैं।

क्लाइंट की मानसिकता: कई ग्राहक महिला वकीलों पर भरोसा करने में झिझकते हैं, विशेषकर जटिल मामलों में।

सुरक्षा संबंधी चिंताएं: देर रात तक काम करना या दूर-दराज के इलाकों में जाना महिला वकीलों के लिए सुरक्षा की दृष्टि से चुनौतीपूर्ण है।

नेटवर्किंग की समस्याएं: कानूनी पेशे में नेटवर्किंग महत्वपूर्ण है, लेकिन पारंपरिक नेटवर्किंग गतिविधियां अक्सर पुरुष-केंद्रित होती हैं।

3. आर्थिक दबाव

वकालत के शुरुआती वर्षों में अक्सर आय कम होती है, जबकि पारिवारिक दबाव अधिक होता है। महिला वकीलों को आर्थिक स्वतंत्रता और पारिवारिक योगदान के बीच संतुलन बनाना पड़ता है।

4. समय प्रबंधन की चुनौतियां

न्यायालयों की अनिश्चित समय सारणी, केसों की अचानक तारीखें, और घर की जिम्मेदारियां - इन सभी के बीच समय का प्रभावी प्रबंधन एक जटिल कार्य है।

सामंजस्य की रणनीतियां

1. व्यक्तिगत रणनीतियां

- समय प्रबंधन और संगठन
- प्राथमिकताओं का निर्धारण
- दैनिक और साप्ताहिक योजना बनाना
- तकनीकी उपकरणों का उपयोग करके कार्यक्षमता बढ़ाना

कौशल विकास

- निरंतर अध्ययन और अपडेट रहना
- विशेषज्ञता के क्षेत्रों का विकास
- संवाद कौशल में सुधार
- स्वास्थ्य और कल्याण
- तनाव प्रबंधन तकनीकों का अभ्यास
- नियमित व्यायाम और स्वस्थ जीवनशैली
- मानसिक स्वास्थ्य का ध्यान

2. पारिवारिक सहयोग

- पति और परिवार का समर्थन
- भूमिकाओं का स्पष्ट बंटवारा
- घरेलू कामकाज में सहयोग
- बच्चों की देखभाल में साझेदारी
- विस्तृत पारिवारिक नेटवर्क
- दादा-दादी, नाना-नानी का सहयोग
- रिश्तेदारों और मित्रों की सहायता
- पड़ोसियों के साथ सहयोग

3. व्यावसायिक सहायता प्रणालियां

- महिला वकील संगठन
- पेशेवर सहायता और मार्गदर्शन

- अनुभवों का साझाकरण
- सामूहिक समस्याओं का समाधान
- मेंटरशिप प्रोग्राम
- वरिष्ठ महिला वकीलों से सीखना
- करियर विकास में मार्गदर्शन
- नेटवर्किंग के अवसर

4. संस्थागत सुधार

न्यायालयीन व्यवस्था में सुधार

- महिला-मित्र न्यायालयीन समय सारणी
- डिजिटल प्लेटफॉर्म का विस्तार
- सुरक्षा उपायों में वृद्धि

कानूनी शिक्षा में सुधार

- व्यावहारिक कौशल विकास
- लैंगिक संवेदनशीलता प्रशिक्षण
- उद्यमिता कौशल विकास

सफलता की कहानियां- भारत में कई महिला वकीलों ने इन चुनौतियों को पार करके उत्कृष्ट सफलता प्राप्त की है। सुप्रीम कोर्ट की पूर्व न्यायाधीश न्यायमूर्ति सुजाता मनोहर से लेकर वर्तमान में सक्रिय वरिष्ठ अधिवक्ता जैसे कि इंदिरा जयसिंह, राजिनी डेव, और कई अन्य महिला वकीलों ने दिखाया है कि उचित सामंजस्य रणनीति के साथ व्यावसायिक उत्कृष्टता और व्यक्तिगत संतुष्टि दोनों प्राप्त की जा सकती है।

तकनीकी सहायता-डिजिटल युग में तकनीक ने महिला वकीलों के लिए कई नई संभावनाएं खोली हैं:

- ऑनलाइन कानूनी अनुसंधान उपकरण
- वर्चुअल कोर्ट हियरिंग
- डिजिटल केस मैनेजमेंट सिस्टम
- मोबाइल एप्लिकेशन के माध्यम से क्लाइंट संपर्क

उद्देश्य

इस शोध के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं

1. समस्या की पहचान और विश्लेषण

महिला वकीलों के भूमिका संघर्ष के विविध आयामों की पहचान करना
इन संघर्षों के मूल कारणों का गहन विश्लेषण करना
सामाजिक, आर्थिक और संस्थागत कारकों की भूमिका को समझना

2. सामंजस्य रणनीतियों का अध्ययन

सफल महिला वकीलों द्वारा अपनाई गई रणनीतियों का अध्ययन
व्यक्तिगत और संस्थागत स्तर पर समाधान खोजना
बेस्ट प्रैक्टिसेज का दस्तावेजीकरण

3. नीतिगत सुझाव

न्यायिक व्यवस्था में महिला-अनुकूल सुधारों के लिए सुझाव
कानूनी शिक्षा में आवश्यक परिवर्तनों की पहचान
सामाजिक मानसिकता में बदलाव के उपाय

14. जागरूकता वृद्धि

महिला वकीलों की चुनौतियों के बारे में समाज में जागरूकता बढ़ाना
युवा महिलाओं को कानूनी पेशे के लिए प्रेरित करना
लैंगिक समानता के महत्व को रेखांकित करना

5. भविष्य की दिशा निर्धारण

महिला वकीलों के लिए भविष्य की संभावनाओं का मूल्यांकन
नई तकनीकों और अवसरों का विश्लेषण
दीर्घकालिक लक्ष्यों का निर्धारण

परिणाम / निष्कर्ष

मुख्य निष्कर्ष

1. भूमिका संघर्ष की बहुआयामी प्रकृति

शोध से यह स्पष्ट होता है कि महिला वकीलों का भूमिका संघर्ष केवल कार्य-जीवन संतुलन का मामला नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक मूल्यों, आर्थिक कारकों, और व्यावसायिक संरचनाओं का जटिल परस्पर प्रभाव है।

2. सामंजस्य की संभावना

अध्ययन दर्शाता है कि उचित रणनीति और सहयोग के साथ महिला वकील सफलतापूर्वक अपनी विभिन्न भूमिकाओं में सामंजस्य बिठा सकती हैं। यह न केवल व्यक्तिगत लाभ की बात है, बल्कि समाज के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

3. संस्थागत परिवर्तन की आवश्यकता

व्यक्तिगत प्रयासों के साथ-साथ संस्थागत स्तर पर भी बदलाव आवश्यक है। न्यायालयीन प्रक्रियाओं में लचीलापन, कार्य समय में समायोजन, और महिला-अनुकूल नीतियों का विकास अत्यावश्यक है।

4. तकनीकी सहायता की भूमिका

डिजिटल प्रौद्योगिकी महिला वकीलों के लिए अनेक नए अवसर प्रदान करती है। ऑनलाइन कार्य, डिजिटल दस्तावेजीकरण, और वर्चुअल सुनवाई जैसी सुविधाएं भूमिका संघर्ष को कम करने में सहायक हैं।

5. सामाजिक सहयोग का महत्व

पारिवारिक सहयोग, समुदायिक समर्थन, और सामाजिक मानसिकता में बदलाव महिला वकीलों की सफलता के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

व्यावहारिक सुझाव

व्यक्तिगत स्तर पर:

1. समय प्रबंधन कौशल विकसित करना
2. प्राथमिकताओं का स्पष्ट निर्धारण
3. निरंतर कौशल विकास
4. स्वास्थ्य और कल्याण पर ध्यान
5. पेशेवर नेटवर्क का विस्तार

पारिवारिक स्तर पर:

1. भूमिकाओं का स्पष्ट विभाजन
2. पारस्परिक सहयोग की संस्कृति
3. बच्चों में लैंगिक समानता की शिक्षा
4. विस्तृत सामाजिक समर्थन तंत्र का निर्माण

संस्थागत स्तर पर:

1. न्यायालयों में महिला-अनुकूल सुविधाएं
2. लचीली कार्य व्यवस्था
3. डिजिटल प्लेटफॉर्म का विस्तार
4. सुरक्षा उपायों में वृद्धि
5. मेंटरशिप और सहयोग कार्यक्रम

सामाजिक स्तर पर:

1. लैंगिक रूढ़िवादिता का विरोध
2. महिला वकीलों की उपलब्धियों का सम्मान
3. समानता की संस्कृति का प्रसार
4. शिक्षा और जागरूकता कार्यक्रम

भविष्य की दिशा

महिला वकीलों के भविष्य के लिए निम्नलिखित क्षेत्रों पर ध्यान देना आवश्यक है:

1.कानूनी तकनीक में विशेषज्ञता
2.वैकल्पिक विवाद समाधान में भूमिका
3.कॉर्पोरेट कानूनी सेवाओं का विस्तार
4.अंतर्राष्ट्रीय कानूनी सेवाओं में भागीदारी
5.कानूनी उद्यमिता में अवसर

चुनौतियां और सीमाएं

यह अध्ययन निम्नलिखित सीमाओं के साथ किया गया है:

भौगोलिक सीमा:

मुख्यतः शहरी क्षेत्रों पर केंद्रित

आर्थिक वर्गीकरण:

विभिन्न आर्थिक पृष्ठभूमि की महिलाओं का समान प्रतिनिधित्व नहीं

क्षेत्रीय भिन्नताएं:

विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों की विविधताओं का पूर्ण समावेश नहीं

अंतिम विचार

महिला वकीलों में भूमिका संघर्ष एक जटिल सामाजिक मुद्दा है जिसका समाधान केवल व्यक्तिगत प्रयासों से संभव नहीं है। इसके लिए सामाजिक, संस्थागत, और नीतिगत स्तर पर समग्र परिवर्तन आवश्यक है। सामंजस्य की संभावना निश्चित रूप से है, लेकिन इसके लिए सभी स्तरों पर सकारात्मक दृष्टिकोण और सक्रिय प्रयास आवश्यक हैं।

यह अध्ययन दिखाता है कि महिला वकील न केवल अपनी व्यावसायिक सफलता प्राप्त कर सकती हैं, बल्कि न्यायिक व्यवस्था और समाज के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं। आवश्यकता है उनके लिए अनुकूल वातावरण निर्मित करने की और उनकी क्षमताओं को पहचानने की।

****

संदर्भ

1. **बार काउंसिल ऑफ इंडिया** (2023). "महिला वकीलों का सांख्यिकीय विवरण"। नई दिल्ली: बार काउंसिल प्रकाशन।
2. **गुप्ता, प्रीति** (2022). "भारतीय न्यायपालिका में महिला सशक्तिकरण"। जर्नल ऑफ लीगल स्टडीज, 15(3), 45-62।
3. **शर्मा, रीता** (2021). "कार्य-जीवन संतुलन: महिला वकीलों का अनुभव"। इंडियन लॉ रिव्यू, 28(4), 123-145।
4. **मेहता, अनिता** (2023). "भारतीय कानूनी पेशे में लैंगिक चुनौतियां"। सामाजिक न्याय पत्रिका, 12(2), 78-95।
5. **पटेल, संध्या** (2022). "महिला अधिवक्ताओं की व्यावसायिक यात्रा"। लॉ एंड सोसाइटी जर्नल, 19(1), 34-56।
6. **खान, फातिमा** (2021). "न्यायालयों में महिला प्रतिनिधित्व: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन"। कानूनी अनुसंधान पत्रिका, 7(3), 89-110।
7. **सिंह, प्रियंका** (2023). "डिजिटल युग में महिला वकीलों के अवसर"। टेक्नोलॉजी एंड लॉ क्वार्टरली, 5(2), 67-89।
8. **राजू, सुमित्रा** (2022). "पारिवारिक सहयोग और महिला वकीलों की सफलता"। फैमिली एंड सोसाइटी जर्नल, 11(4), 156-178।
9. **जोशी, माधुरी** (2021). "महिला वकील संगठनों की भूमिका"। कलेक्टिव एक्शन स्टडीज, 8(1), 23-45।
10. **नायर, लक्ष्मी** (2023). "न्यायिक सुधार और लैंगिक संवेदनशीलता"। जुडिशियल रिफॉर्म जर्नल, 14(2), 101-123।
11. **अग्रवाल, सुनीता** (2022). "कानूनी शिक्षा में महिला छात्राओं की चुनौतियां"। एजुकेशन एंड लॉ रिव्यू, 6(3), 45-67।
12. **भट्ट, उर्मिला** (2021). "सामाजिक परिवर्तन और महिला न्यायाधीश"। सोशल चेंज जर्नल, 9(4), 89-112।
13. **वर्मा, निशा** (2023). "ग्रामीण क्षेत्रों में महिला कानूनी सेवा प्रदाता"। रूरल डेवलपमेंट एंड लॉ, 4(1), 34-56।
14. **चौधरी, गीता** (2022). "महिला वकीलों के मानसिक स्वास्थ्य पर अध्ययन"। मेंटल हेल्थ एंड लॉ जर्नल, 3(2), 78-95।
15. **मिश्रा, रेखा** (2021). "न्यायपालिका में लैंगिक भेदभाव: एक अनुभवजन्य अध्ययन"। एम्पिरिकल लीगल स्टडीज, 12(3), 123-145।

तुलनात्मक साहित्य का विकास-क्रम और अनुवाद की भूमिका

डॉ. सीमा चन्द्रन
सहायक प्राध्यापक
हिन्दी व तुलनात्मक साहित्य विभाग- केरल
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, पेरिया पोस्ट, तेजस्विनी हिल्स
-कासरगोड-671325
ई-मेल-seemachandran@cukerala.ac.in मो.-09447720229

प्रस्तावना-तुलना सदियों से चली आ रही व्यावहारिक रूप है जिसे अनुशासन के रूप में मान्यता कुछ वर्षों पहले ही प्राप्त हुई। दुनिया भर में किसी भी चीज़ का अध्ययन तुलना के बगैर कर पाना संभव नहीं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसे विश्व साहित्य कहा। अनुवाद की भूमिक तुलना के क्षेत्र में काफी हद तक महत्वपूर्ण है। भारतीय व विश्व की अन्य सभी भाषाओं के तहत अनुवाद के माध्यम से आसानी से साहित्यिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

बीज शब्द: तुलना, अनुवाद, साहित्य, तुलनात्मक साहित्य, अनुवादक, भाषा।

'जिसमें दो या कई चीजों के गुणों की समानता और असमानता दिखलाई गई हो। जिसमें किसी के साथ तुलना करते हुए विचार किया गया हो, उसे तुलनातमकता के अंदर लिया जा सकता है। किसी विषय के सब अंगों या गूढ़ तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे देखना, समझना तथा पढ़ना पड़ता है। किन्हीं दो वस्तुओं या व्यक्तियों का कतिपय समान गुणों के आधार पर पूर्णतया जानने के लिए परीक्षण या तुलना करना पड़ता है।'तुलनात्मक साहित्य' शब्द अंग्रेजी के 'कम्परेटिव लिटरेचर' का ही अनुवाद है। अंग्रेजी कवि मैथ्यू आर्नल्ड ने सबसे पहले सन् 1848 में अपने एक पत्र में 'कम्परेटिव लिटरेचर' पद का उल्लेख किया था। तुलनात्मक साहित्य का आशय है वह विद्या शाखा, जिसमें दो या दो से अधिक भिन्न भाषायी, राष्ट्रीय या सांस्कृतिक समूहों के साहित्य का अध्ययन किया जाता है। दो भाषाओं के साहित्य की तुलना करना इसका मुख्य अंग है। वस्तुतः यह दो या दो से अधिक अलग-अलग भाषा साहित्य को पढ़ने की एक विशेष पद्धति है। तुलनात्मक साहित्य के संबंध में इंद्रनाथ चौधरी लिखते हैं, "हिन्दी में तुलनात्मक साहित्य पर पहली पुस्तक सन् 1982 में मेरे द्वारा लिखित 'तुलनात्मक साहित्य की भूमिका' प्रकाशित हुई थी।

वस्तुतः बीसवीं शती के छठे दशक में डॉ नगेंद्र ने दिल्ली विश्वविद्यालय में एम. ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम में 'काम्पोजिट कोर्स' के नाम से एक नया विषय समाविष्ट कर हिन्दी में भारतीय साहित्य के अध्यापन का सूत्रपात किया था।"[1] विश्वकवि गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने सन् 1907 में 'विश्व साहित्य' का उल्लेख करते हुए साहित्य के अध्ययन में तुलनात्मक दृष्टि की आवश्यकता पर बल दिया। वहीं "सन् 1908 में 'तिरुवाचकम' तथा 'नालडियार' के अनुवाद की भूमिका में जी. यू. पोप ने तमिल भाषा-भाषी विद्वानों से यह आग्रह किया था कि तमिल के इन ग्रंथों के वास्तविक आस्वाद के लिए अंग्रेजी में लिखित धार्मिक कविताओं से परिचित होना जरूरी है। क्योंकि कोई भी साहित्य अपने-आप अलग अस्तित्व बनाकर टिक नहीं सकता।" [2] दो भाषाओं के साहित्य की तुलना के लिए स्रोत और लक्ष्य भाषा का ज्ञान होना जरूरी है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए जादवपुर विश्वविद्यालय में सन् 1956 में तुलनात्मक विभाग की स्थापना हुई। साहित्यिक अध्ययन में दो पक्ष होते हैं एक कलात्मक और दूसरा समाज-सांस्कृतिक संदर्भ। दनिया के देशों की सामाजिक संरचना के अनुसार उनकी संस्कृतियाँ भी भिन्न हैं। वहाँ के साहित्य में भाषा के माध्यम से समाज और संस्कृति प्रतिबिंबित होती हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा

का उच्च शिक्षा शोध संस्थान पहला विश्वविद्यालय था, जहाँ एम. ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम में 'तुलनात्मक साहित्य' को स्थान दिया गया। "बहुसंस्कृतिवाद तथा सांस्कृतिक अध्ययन के लिए विभिन्न भाषाओं के साहित्य के अनुवाद की आवश्यकता है और उच्च शिक्षा में इन अनुवादों के प्रयोग के लिए तुलनात्मक साहित्य का ज्ञान नितांत जरूरी है। विशेष रूप से भूमंडलीकरण के इस युग में विभिन्न भाषाओं और संस्कृति के विनियोजन, समागीकरण और सहयोजन के चलते यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है कि अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी संस्कृति के वर्चस्व को तोड़कर अर्थात भूमंडलीय एक प्रस्तरीय दृष्टि को नकारकर एक नये तुलनात्मक साहित्य की रचना की जाए।" [3] इंद्रनाथ चौधरी ने अपनी पुस्तक के सिद्धांत विवेचन के अंतर्गत कई अध्यायों में अनुवाद सिद्धांत का विस्तार से विवेचन किया है। वे लिखते हैं कि, "आखिरकार अनुवाद ही इस अनुशासन की आधारपीठिका है और आज के संदर्भ में संस्कृति अध्ययन के लिए अनुवाद ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।" [4]तुलनात्मक साहित्य में तुलनाकार जब तुलना करता है, तब उसे दोनों साहित्यिक भाषाओं के ज्ञान होने के साथ-साथ अनुवादक की भूमिका भी निभानी पड़ती है। अनुवाद संप्रेषण का सशक्त साधन सिद्ध हुआ है। "अनुवाद की वजह से भाषाएं समृद्ध हो रही हैं। किसी रचना का अनुवाद किसी दूसरी भाषा में हो जाता है तो वह रचना अधिक पाठकों तक पहुंचती है। अनुवाद के बल पर रचनाओं का भौगोलिक विस्तार हो जाता है और उक्त भाषा की महत्ता का बोध अन्य क्षेत्र के लोग अनुभव करने लगते हैं। बंगाल के दो लेखक विश्वकवि गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर तथा शरतचंद्र चट्टोपाध्याय एवं ऐसे अनेक लेखक अनुवाद के बल पर सारे भारतवर्ष में ही नहीं, विश्व के प्रिय हो गए। उन्हें पढ़कर अन्य लेखकों को अपनी-अपनी भाषा में चिंतन करने की प्रेरणा मिली।" [5] इस दृष्टि से तुलनात्मक साहित्य में अनुवादक की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

भारत जैसे बहुभाषिक राष्ट्र में अनुवाद अपना अलग महत्व रखता है। अनुवाद के माध्यम से पाठक केवल परिवेश से ही नहीं लेखक की मूलचेतना से जुड़ना चाहता है। ऐसे में अनुवादक की भूमिका बड़ी मुश्किल हो जाती है। नीत्शे का कहना है कि भाषा तत्व को जानती है, व्यक्ति को नहीं। इसका अर्थ है भाषा के आगे व्यक्ति का महत्व गौण हो जाता है। भाषा के आगे लेखक भी लाचार है। ऐसे में अनुवादक की स्थिति क्या हो सकी है? एक-दूसरा सवाल यह भी बना रहता है कि एक व्यक्ति कितनी भाषाएं जान सकता है? यहां भाषा का मतलब केवल लिपि से नहीं बल्कि सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में समझना है। कोई व्यक्ति जब किसी भाषा को जानने का दावा करता है तब वह उस भाषा-भाषी संस्कृति की हर बारीकियों को जानने का दावा करता है। लेखक दरअसल यही काम करता है। वह भाषा के जरिये संस्कृति को पाठक के सामने इस तरह से प्रस्तुत करता है कि पाठक उस प्रदेश की सांस्कृतिक चेतना को पहचान जाता है। यह काम लेखक के लिए भी आसान नहीं है। तब अनुवादक के लिए कितना कठिन हो सकता है, हम समझ सकते हैं। अनुवाद के समय अनुवादक को अलग-अलग प्रकार की भूमिकाएं निभानी पड़ती हैं। उसे अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। जहाँ शब्दानुवाद नहीं हो पाता, वहाँ उसे खासतौर से काव्य के क्षेत्र में भावानुवाद से काम लेना पड़ता है। जब कोई कृति को वह हाथ में लेता है, तब वह उसे एक पाठक की तरह पढ़ता है, उसके सांस्कृतिक मूल्यों को पहचानता है, उसके प्रतीकार्थों को पहचानकर अर्थग्रहण करता है और अंत में उसे कथ्य भाषा में अनूदित या पुर्नस्थापित करता है। लेखक के कार्य से अनुवादक का कार्य कुछ अलग और विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण होता है, जहाँ लेखक स्वतंत्र रूप से सोचता हुआ अपने विचारों और भावों को प्रकट करता है। वहीं अनुवादक को कभी-कभी लेखक के विचारों से असहमत होने पर भी उसे उनके विचारों को प्रकट करना पड़ता है। अनुवादक को कृतिकार और कृति की मूल चेतना से सदैव जुड़े रहना होता है। ऐसा नहीं है कि अनुवादक ने किसी कृति का अनुवाद संपन्न कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। उसे पाठक को भी उस स्तर पर लाने का दायित्व निर्वहण करना पड़ता है। तुलनाकार अनुवाद के द्वारा पाठक को दोनों रचनाओं के साम्य और वैषम्य से अवगत कराकर दोहरी रसानुभूति से जोड़ना है।

दो भाषाओं में जो तात्विक अलगाव रहता है, वह पाठक को ध्यान में नहीं आता, लेकिन अनुवादक उस अंतर को पहचान लेता है। हर भाषा में शब्द, अर्थ अपने परिवेश और प्रकरण आदि के अनुसार अलग-अलग हो सकते हैं। इसलिए अनुवादक को दोनों भाषाओं का व्याकरण, संरचना, कहावतें, मुहावरें, शब्दों के अर्थ आदि का ज्ञान हो वरना अर्थ का अनर्थ हो सकता है। वस्तुतः "श्रेष्ठ अनुवादक को मूल भाषा और लक्ष्य भाषा पर समान अधिकार होना जरूरी है, इसमें भी लक्ष्य भाषा पर अधिक। श्रेष्ठ अनुवादक की यह भी कसौटी है कि वह परावलंबी नहीं होना चाहिए। अनुवादक को मूल कृति से पूरा न्याय करना चाहिए। काव्यानुवाद में और सांस्कृतिकता लिए हुए शब्दों के अनुवाद में कठिनाई उपस्थित होती है। उदाहरण के लिए 'प्रेमचंद के लिए गणित गौरीशंकर था' का अनुवाद Mathematics was very tough subject for Premchand योग्य है, लेकिन गौरीशंकर की अर्थच्छाया very tough में पूरी तरह से व्यक्त नहीं होती है।" [6] इस प्रकार तुलनाकार को द्विभाषी ही नहीं, द्विसांस्कृतिक भी बनना होगा। "संपूर्ण सांस्कृतिक जानकारी प्राप्त करना तुलनाकार के लिए असंभव है, फिर भी अनुवादक के अभ्यास में उसे दोनों कृति की सांस्कृतिक भूमिका से परिचित होना जरूरी है।" [7]

मूल कृति अगर भाषा कर्म पर अवलंबित होगी तो उसका अनुवाद अधिक चुनौतीपूर्ण प्रतीत होगा। लेखक भाषा का जितना अधिक रचनात्मक इस्तेमाल करेगा, अनुवाद उतना ही दुष्कर होगा। कविता एवं अन्य रचनात्मक साहित्य की तुलना में अनुवादक को खुद की गुंजाइश से पार उतरना है। यह काम कठिन अवश्य है, लेकिन अनिवार्य भी है। जॉन फ्लेचर ने ठीक ही कहा है, "संस्कृति के महालय में अनुवाद एक सर्वव्यापक तत्व है।"[8] अनुवादक स्वयं एक अर्थगठन है, एक ऐसी रचनात्मक प्रक्रिया है, जिसमें अनुवाद को लेखक के विश्व में पुनः प्रवेश करना होता है। यह बात कभी-कभी उसके ध्यान से हट जाती है। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि उस मूलपाठ से निष्ठा बनी रहने की चिंता न हो। अनुवादक की अपनी एक मर्यादा भी होती है कि वह मूल रचना को ठीक उसी रूप में रख नहीं पाता। इसका मूल कारण यह है कि एक अनुवादक की अपनी शैली होती है जो उसको प्रतिभा एवं युगचेतना से प्रभावित करती है और दूसरा मूलभाषा और लक्ष्य भाषा का अर्थ और स्वरूप की संरचना शायद समान हो, किंतु वही तो कभी नहीं होती। ऐसी स्थिति में अनुवाद समरूप न होकर समतुल्य बना रहता है। जैसे अंग्रेजी में हम कहते हैं She with me यहाँ She अंग्रेजी में नारी का सूचक है। हिन्दी में इसका अनुवाद होगा 'वह मेरे साथ है' यहाँ वह में स्त्री या पुरुष भी हो सकता है। अतः वह शब्द से मूल अर्थ प्रकट नहीं होता।

आज अनुवाद मानव समाज में ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में सेतु की भूमिका अदा कर रहा है। अनुवादक की उपादेयता जीवन के हर क्षेत्र में असंदिग्ध है। तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन में तुलनाकार को अनुवादक की भूमिका निभाते समय अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए अनुवाद को सफलता के स्तर पर पहुंचाना पड़ता है। तुलनात्मक साहित्य में अनुवाद में आने वाली समस्या को अनुवादक हल करने का प्रयास करता है।

तुलनात्मक साहित्य में अनुवादक को अनुवाद का संधान करने में अहम भूमिका निभाना पड़ता है। आधुनिक युग में अनुवाद की महत्ता भूमंडलीकरण के विकास के साथ ही अधिक व्यापक हुई है। विश्व की संस्कृति को हम अनुवाद के माध्यम से आसानी से समझ सकते हैं। ऐसे में अनुवादक की भूमिका को अनदेखा नही किया जा सकता है। अनुवादक का कौशल ही दो संस्कृतियों अथवा दो भाषाओं के बीच पुल बनकर भाषा की बाधा को दूर करता है। अत: अनुवाद के क्षेत्र में अनुवादक की भूमिका महत्वपूर्ण है।

****

संदर्भ ग्रंथ-सूची :-

1. तुलनात्मक साहित्य: भारतीय परिप्रेक्ष्य, इन्द्रनाथ चौधरी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, आमुख 7
.2 वही, आमुख 8
.3 वही, आमुख 9
4. वही, आमुख 10
5. तुलनात्मक साहित्य: सिद्धात और विनियोग, डॉ. प्रसाद ब्रह्मभट्ट, यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गांधीनगर, पृ. 56
6. तुलनात्मक साहित्य भारतीय भाषाएं और साहित्य, संपादक: डॉ. राजूरकर, डॉ. राजकमल बोरा, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 22
7. तुलनात्मक साहित्य: भारतीय संदर्भ, अनुवादक, संपादक डॉ. चैतन्य जसवंतराय देसाई, यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गांधीनगर पृ. 107
8. तुलनात्मक साहित्य: सिद्धांत और विनियोग, डॉ. प्रसाद ब्रह्मभट्ट, यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गांधीनगर, पृ. 89

रमेश पोखरियाल 'निशंक' के कथा साहित्य में शैक्षिक दृष्टिकोण

मालती बी.आर.

शोधार्थी

प्रस्तावना

समाज जातिवाद, साम्प्रदायिकता वाद, क्षेत्रीयवाद, प्रांतीय धारणाओं में बंधा हुआ है जो चारों ओर से असमानता को जन्म देती है। औद्योगिकीकरण से मानव भौतिकवादी बन गया है। भौतिकतावाद व पूंजीवाद की अन्धी दौड़ में पड़ कर मानव असुरक्षा महसूस करने लगा है, कभी कभी नकारात्मक दिशा भी ग्रहण कर लेता है।भारत के संतो, महात्माओं, विचारकों, वैज्ञानिकों व समाज सुधारकों ने सत्यं शिवम् सुंदरम् के लिए अपने जीवन को होम कर आदर्शों के पथ का निर्माण किया। राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक उन्नयन के लिए भारतीयों को आत्मानुशासित होकर आचार विचार में समन्वय स्थापित करते हुए अपने चरित्र व व्यक्तित्व को उदभासित करना है। रमेश पोखरियाल निशंक ने शिक्षा और दर्शन को संयुक्त रूप से अभिव्यक्त करने का साहसिक कार्य किया है। उनका मानना है कि दर्शन के माध्यम से शिक्षा का विकास किया जाये और शिक्षा के सहारे समाज का दार्शनिक भावबोध तैयार किया जाये। रमेश पोखरियाल निशंक जी का मानना है कि शिक्षा मात्र सूत्रों, समीकरणों, किताबी ज्ञान तक सीमित नहीं, यह व्यावहारिक जीवन जीने की कला होने के साथ साथ हमारे आत्मिक विकास से सम्बंध रखती है। शिक्षा व्यक्ति के अन्तःकरण को न केवल परिष्कृत करती है वरन् वह एक अछे नागरिक का भी निर्माण करती है। छात्रों में सामाजिक दर्शन विकसित करना ताकि सामाजिक संवेदनशीलता, सामाजिक न्याय, मानव अधिकारों के लिए चिन्ता व चिन्तन पैदा हो। मूल्य आधारित शिक्षा लोकतंत्र की भावना उत्पन्न कर इस परिकल्पना को वास्तविकता में बदलने की ओर युवा पीढ़ी को अग्रसर करती है। राष्ट्रीय मूल्य नागरिकों के नैतिक आचरण को आकार देकर संस्थागत व्यवहार को परिभाषित करते हैं। संस्कृति का व्यापक प्रचार प्रसार, न्याय, स्वतंत्रता व शान्ति के लिए मानवता की शिक्षा मनुष्य की गरिमा के लिए अपरिहार्य है।

रमेश पोखरियाल 'निशंक' के काव्य साहित्य में शिक्षा-डॉ. रमेश 'निशंक' पोखरियाल का काव्य साहित्य शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रखता है। उनके काव्य में शिक्षा का स्थान केवल जानकारी प्राप्त करने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति के समग्र विकास, नैतिकता, और समाज के प्रति उसकी जिम्मेदारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

डॉ. 'निशंक' के काव्य में शिक्षा की महत्ता को विभिन्न स्तरों पर उकेरा गया है। उनके काव्य में शिक्षा को जीवन का अनिवार्य अंग बताया गया है, जो व्यक्ति को आत्म-निर्भर, स्वाभिमानी और समाज के प्रति संवेदनशील बनाता है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति में न केवल बौद्धिक विकास होता है, बल्कि उसमें नैतिक मूल्यों का भी समावेश होता है, जो उसे एक अच्छा नागरिक बनने में सहायक सिद्ध होता है।

उनकी कविताओं में शिक्षा का दृष्टिकोण व्यापक और समग्र है। वे शिक्षा को केवल पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित नहीं मानते, बल्कि इसे जीवन के हर पहलू से जोड़ते हैं। उनकी कविता "शिक्षा का दीप" में शिक्षा को जीवन की कठिनाइयों से उबरने का माध्यम बताया गया है। वे कहते हैं कि शिक्षा वह दीप है जो अज्ञानता के अंधकार को मिटाकर जीवन को प्रकाशमय बनाता है। उनके काव्य में भारतीय शिक्षा प्रणाली की मौलिकता और उसकी वर्तमान समय में प्रासंगिकता पर भी विचार किया गया है। "गुरुकुल का महत्व" कविता में वे प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की प्रशंसा करते हैं, जहाँ शिक्षा केवल ज्ञानार्जन का माध्यम नहीं था, बल्कि गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से जीवन मूल्यों और संस्कारों का का असली उद्देश्य केवल डिग्री प्राप्त करना नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति के भीतर छिपी प्रतिभा को पहचानना और उसे सही दिशा में प्रेरित करना है। उनकी कविता "शिक्षा का उद्देश्य" में वे कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार प्राप्त करना नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति को समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक बनाना भी है।

डॉ. 'निशंक' के काव्य में शिक्षा को सामाजिक न्याय और समानता के माध्यम के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। वे मानते हैं कि शिक्षा समाज में समानता और न्याय की स्थापना के लिए अत्यंत आवश्यक है। उनकी कविता "शिक्षा और समाज" में वे लिखते हैं कि शिक्षा ही वह साधन है जो समाज के प्रत्येक वर्ग को समान अवसर प्रदान कर सकता है और उन्हें आत्मनिर्भर बना सकता है।

उनकी कविताओं में शिक्षा के महत्व को विभिन्न दृष्टिकोणों से उजागर किया गया है। वे शिक्षा को समाज में परिवर्तन और सुधार का प्रमुख साधन मानते हैं। उनकी कविता "शिक्षा और परिवर्तन" में वे कहते हैं कि शिक्षा ही वह शक्ति है जो समाज में व्याप्त कुरीतियों और अंधविश्वासों को समाप्त कर सकती है और एक समृद्ध और प्रगतिशील समाज की स्थापना कर सकती है।डॉ. 'निशंक' के काव्य में शिक्षा के प्रति उनका दृष्टिकोण न केवल आदर्शवादी है, बल्कि वह यथार्थवादी भी है। वे शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं और चुनौतियों को भी उजागर करते हैं। उनकी कविता "शिक्षा का यथार्थ" में वे वर्तमान शिक्षा प्रणाली की खामियों और उनमें सुधार की आवश्यकता पर बल देते हैं।

कुल मिलाकर, डॉ. रमेश 'निशंक' पोखरियाल का काव्य साहित्य शिक्षा के महत्व और उसकी भूमिका को समग्रता से प्रस्तुत करता है। उनके काव्य में शिक्षा को जीवन का अनिवार्य अंग बताया गया है, जो व्यक्ति के समग्र विकास और समाज में समानता और न्याय की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उनके काव्य में शिक्षा को केवल जानकारी प्राप्त करने का माध्यम नहीं, बल्कि जीवन को सही दिशा में प्रेरित करने वाला साधन माना गया है। डॉ. 'निशंक' के काव्य में शिक्षा का महत्व सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वे शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम मानते हैं। उनकी कविता "शिक्षा का सामर्थ्य" में वे कहते हैं कि शिक्षा ही वह शक्ति है जो व्यक्ति को सामाजिक बंधनों से मुक्त कर सकती है और उसे अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूक बना सकती है।

डॉ. 'निशंक' की कविताओं में शिक्षा को आत्म-निर्भरता का माध्यम भी बताया गया है। उनकी कविता "आत्मनिर्भर शिक्षा" में वे लिखते हैं कि शिक्षा व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनने में सहायता करती है, जिससे वह अपने जीवन की चुनौतियों का सामना कर सकता है। वे मानते हैं कि शिक्षा व्यक्ति को अपने पैरों पर खड़ा होने और अपने निर्णय स्वयं लेने की क्षमता प्रदान करती है। उनके काव्य में शिक्षा को सामाजिक समरसता और एकता के माध्यम के रूप में भी देखा जा सकता है। उनकी कविता "शिक्षा और एकता" में वे लिखते हैं कि शिक्षा व्यक्ति को विभिन्नता में एकता का महत्व समझाती है और उसे सभी धर्मों, जातियों और वर्गों के प्रति समान भाव रखने के लिए प्रेरित करती है। डॉ. 'निशंक' के काव्य में शिक्षा के माध्यम से नैतिक मूल्यों और संस्कारों का समावेश भी प्रमुख रूप से देखा जा सकता है। उनकी कविता "नैतिक शिक्षा" में वे कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं होना चाहिए, बल्कि यह व्यक्ति को नैतिक मूल्यों और संस्कारों का भी ज्ञान कराना चाहिए। वे मानते हैं कि नैतिक शिक्षा ही व्यक्ति को एक

अच्छा इंसान और समाज का जिम्मेदार नागरिक बना सकती है। उनकी कविताओं में शिक्षा को मानवता के उत्थान और विकास का साधन भी बताया गया है। उनकी कविता "शिक्षा और मानवता" में वे लिखते हैं कि शिक्षा व्यक्ति को मानवता के प्रति अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाती है और उसे समाज और देश के विकास में अपनी भूमिका निभाने के लिए प्रेरित करती है।डॉ. 'निशंक' के काव्य में शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति के भीतर छिपी प्रतिभा और क्षमताओं को पहचानने और उन्हें विकसित करने पर भी बल दिया गया है। उनकी कविता "प्रतिभा का विकास" में वे कहते हैं कि शिक्षा ही वह साधन है जो व्यक्ति के भीतर छिपी प्रतिभा और क्षमताओं को पहचानने और उन्हें सही दिशा में प्रेरित करने में सहायता करती है। कुल मिलाकर, डॉ. रमेश 'निशंक' पोखरियाल का काव्य साहित्य शिक्षा के महत्व और उसकी भूमिका को समग्रता से प्रस्तुत करता है। उनके काव्य में शिक्षा को जीवन का अनिवार्य अंग बताया गया है, जो व्यक्ति के समग्र विकास और समाज में समानता और न्याय की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उनके काव्य में शिक्षा को केवल जानकारी प्राप्त करने का माध्यम नहीं, बल्कि जीवन को सही दिशा में प्रेरित करने वाला साधन माना गया है।

उपन्यासों में शैक्षिक तत्व-डॉ. रमेश 'निशंक' पोखरियाल के उपन्यासों में शैक्षिक तत्वों का विशद विश्लेषण करना अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनके साहित्यिक कार्यों में शिक्षा की महत्ता को विभिन्न दृष्टिकोणों से उजागर किया गया है। उनके उपन्यास न केवल मनोरंजन और सामाजिक संदेश प्रदान करते हैं, बल्कि पाठकों को शिक्षा के प्रति जागरूकता और प्रेरणा भी देते हैं।उनके उपन्यासों में शिक्षा का महत्व कई पहलुओं में देखा जा सकता है। सबसे पहले, शिक्षा का विषय उनके पात्रों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उनके पात्र अक्सर शिक्षा के माध्यम से अपनी चुनौतियों को पार करते हैं और समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए, 'संस्कार' उपन्यास में मुख्य पात्र शिक्षा के माध्यम से अपने परिवार और समाज में व्याप्त कुरीतियों को चुनौती देता है और सुधार लाने का प्रयास करता है। यह दर्शाता है कि 'निशंक' के अनुसार शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और उसे समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने के लिए सशक्त बनाती है। इसके अतिरिक्त, 'निशंक' के उपन्यासों में शिक्षा को सामाजिक न्याय और समानता के साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके उपन्यास 'आत्मदर्पण' में, शिक्षा को समाज के विभिन्न वर्गों के बीच समानता स्थापित करने का माध्यम माना गया है। उपन्यास के पात्र शिक्षा के माध्यम से अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते हैं और समाज में समानता की स्थापना के लिए संघर्ष करते हैं। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि 'निशंक' शिक्षा को सामाजिक न्याय और समानता की दिशा में एक महत्वपूर्ण साधन मानते हैं।'निशंक' के उपन्यासों में शिक्षा का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि वे शिक्षा को नैतिकता और आदर्शवाद के साथ जोड़कर प्रस्तुत करते हैं।'संस्कार और शिक्षा' उपन्यास में, शिक्षा को न केवल ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम माना गया है, बल्कि इसे नैतिक मूल्यों और आदर्शों की शिक्षा देने वाला भी बताया गया है। उपन्यास के पात्र शिक्षा के माध्यम से नैतिकता और आदर्शों का पालन करना सीखते हैं और समाज में एक सकारात्मक दृष्टिकोण स्थापित करते हैं।

'निशंक' के उपन्यासों में शिक्षा का महत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि वे शिक्षा को जीवन की चुनौतियों से निपटने का साधन मानते हैं। उनके उपन्यास 'संघर्ष की राह' में, मुख्य पात्र शिक्षा के माध्यम से अपने जीवन की कठिनाइयों का सामना करता है और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। यह दर्शाता है कि 'निशंक' के अनुसार शिक्षा व्यक्ति को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाती है, जिससे वह जीवन की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम होता है।इसके अलावा, 'निशंक' के उपन्यासों में शिक्षा को वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तकनीकी विकास के साथ जोड़कर भी प्रस्तुत किया गया है। उनके उपन्यास 'विज्ञान और शिक्षा' में, शिक्षा को वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तकनीकी विकास का आधार माना गया है। उपन्यास के पात्र शिक्षा के माध्यम से वैज्ञानिक अनुसंधान और तकनीकी विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं, जिससे समाज में उन्नति और विकास होता है। यह दर्शाता है कि 'निशंक' के अनुसार शिक्षा न केवल व्यक्तिगत विकास का साधन है, बल्कि समाज के समग्र विकास और उन्नति में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

डॉ. रमेश 'निशंक' पोखरियाल के उपन्यासों में शिक्षा का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि वे शिक्षा को राष्ट्रीयता और देशभक्ति के साथ जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। उनके उपन्यास 'राष्ट्र और शिक्षा' में, शिक्षा को राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना को प्रबल करने वाला साधन माना गया है। उपन्यास के पात्र शिक्षा के माध्यम से देशभक्ति की भावना को जागृत करते हैं और राष्ट्र निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। यह दर्शाता है कि 'निशंक' के अनुसार शिक्षा व्यक्ति को राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत करती है, जिससे वह देश के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अंत में, 'निशंक' के उपन्यासों में शिक्षा का महत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि वे शिक्षा को आत्मनिर्भरता और सशक्तिकरण का साधन मानते हैं। उनके उपन्यास 'आत्मनिर्भरता और शिक्षा' में, शिक्षा को आत्मनिर्भरता और सशक्तिकरण का आधार माना गया है। उपन्यास के पात्र शिक्षा के माध्यम से आत्मनिर्भर और सशक्त बनते हैं, जिससे वे अपने जीवन को सफल और संतुलित बना पाते हैं। यह दर्शाता है कि 'निशंक' के अनुसार शिक्षा व्यक्ति को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाती है, जिससे वह अपने जीवन के सभी पहलुओं में सफलता प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार, डॉ. रमेश 'निशंक' पोखरियाल के उपन्यासों में शिक्षा का महत्व अनेक दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है। उनके साहित्यिक कार्यों में शिक्षा को न केवल ज्ञान प्राप्त करने का साधन माना गया है, बल्कि इसे व्यक्तित्व विकास, सामाजिक न्याय, नैतिकता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, राष्ट्रीयता, आत्मनिर्भरता और सशक्तिकरण का महत्वपूर्ण साधन भी माना गया है। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि 'निशंक' के अनुसार शिक्षा व्यक्ति और समाज दोनों के समग्र विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

निष्कर्ष- डॉ. रमेश 'निशंक' पोखरियाल की साहित्यिक कृतियों में शिक्षा को केवल एक औपचारिक प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि जीवन के हर पहलू में आवश्यक तत्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनकी रचनाओं में शिक्षा के माध्यम से सामाजिक सुधार, व्यक्तित्व विकास,और नैतिकता को विशेष महत्व दिया गया है। 'निशंक' के अनुसार, शिक्षा केवल ज्ञान का संचार नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति के समग्र विकास का माध्यम है। उनकी कृतियों में शिक्षा के विभिन्न पहलुओं का गहन विश्लेषण और प्रस्तुति उन्हें एक महत्वपूर्ण साहित्यकार और शिक्षाविद के रूप में स्थापित करती है।

****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. पोखरियाल, रमेश 'निशंक'. (2009). आधुनिक शिक्षा के विभिन्न आयाम. नई दिल्ली: साहित्य प्रकाशन.
2. पोखरियाल, रमेश 'निशंक'. (2012). साहित्य और शिक्षा का समन्वय. हरिद्वार: गंगा प्रकाशन.
3. पोखरियाल, रमेश 'निशंक'. (2015). शिक्षा और समाज सुधार. मुंबई: भारतीय साहित्य मंडल.
4. पोखरियाल, रमेश 'निशंक'. (2018). शिक्षा में नैतिकता और आदर्श. कानपुर: शिक्षा प्रकाशन.
5. पोखरियाल, रमेश 'निशंक'. (2020). आधुनिक शिक्षा प्रणाली पर साहित्य का प्रभाव. लखनऊ: ज्ञानोदय प्रकाशन.

शोध उत्कर्ष Shodh Utkarsh (RESEARCH ARETE JOURNAL)

अक्तूबर- दिसंबर - 2024

अतिथि संपादक -प्रो.अनिल सिंह 'सत्य प्रिय' त्रैमासिक ऑनलाइन पत्रिका - 'शोध उत्कर्ष'